गीता मकरंद

भाग - 2

श्री श्री श्री विद्याप्रकाशानंदगिरि स्वामीजी

हिन्दी रूपांतरकार

श्री वेमूरि राधाकृष्णमूर्ति

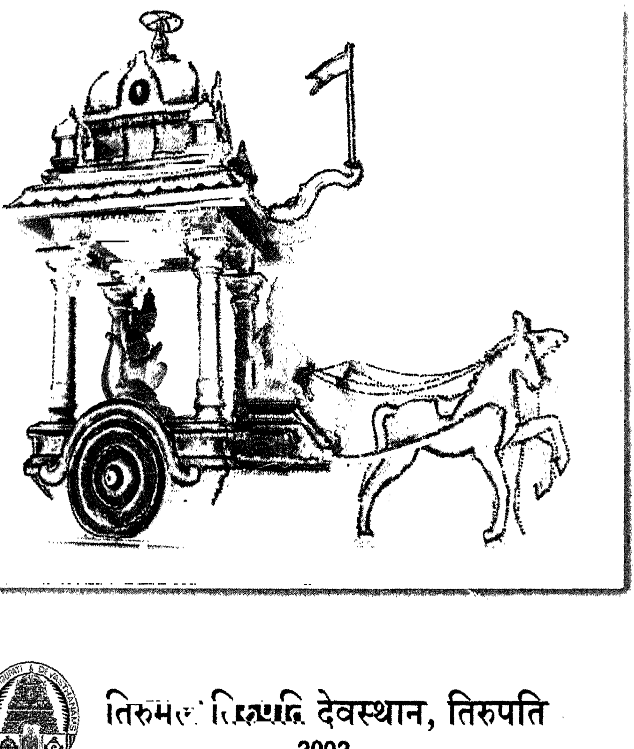

तिरुमल तिरुपति देवस्थान, तिरुपति

2002

गीता मकरंद

श्री श्री श्री विद्याप्रकाशानंदगिरि स्वामीजी
द्वारा तेलुगु में विरचित

दूसरा भाग
(तीसरा, चौथा, पाँचवां व छठा अध्याय)

हिन्दी रूपांतरकार
श्री वेमूरि राधाकृष्णमूर्ति

तिरुमल तिरुपति देवस्थान, तिरुपति
2002

GITA MAKARAND Vol - II
(A Commentary on Bhagavad Gita Chapters 3 to 6)

by
Sri Sri Sri Vidya Prakashananda Giri Swamy

Hindi Translation
Vemuri Radhakrisha Murthy

T.T.D. Religious Publications Series No. : 234

© All Rights Reseved

First Edition : 2002

Copies : 2000

Publshed by:
Dr. P. Krishnaiah, I.A.S.
Executive Officer
Tirumala Tirupati Devasthanams
Tirupati - 517 501

Laser Typesetted at :
Annapurna Graphics
53/3, R.S. Gardens, Tirupati
: 35006

Printed at :
Tirumala Tirupati Devasthanams Press
Tirupati - 517 507

प्रस्तावना

भारतीय सनातन संस्कृति में श्रीमद्भगवद्गीता का स्थान महत्त्वपूर्ण है। वेद, उपनिषद्, पुराण आदि प्राचीन पवित्र ग्रंथों का सार ही भगवद्गीता का विषय है। धर्माचरण ही इसका मुख्य लक्ष्य है। धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में पांडवों और कौरवों के बीच में होनेवाले महासंग्राम में संशयग्रस्त व दुःखित महावीर अर्जुन के संशय व संदेहों का निवारण कर, परब्रह्म श्रीकृष्ण ने अपने उपदेशों द्वारा, कर्तव्योन्मुख किया है। इसमें कर्म, ज्ञान, भक्ति, आत्मा व परमात्मा आदि तत्त्वों का समग्र विश्लेषण मिलता है।

आज के मानव की जीवन-शैली भी अस्त-व्यस्त है। युद्धक्षेत्र में स्थित धर्मभीरु अर्जुन के मन के जैसे, मानव का मन भी संशयोद्वेलित हो, 'किं कर्म किमकर्मेति' परिस्थितियों में आज का मानव किंकर्तव्य विमूढ हो रहा है। केवल गीता का पाठ और मनन करने से ही वह इन बाधाजनक परिस्थितियों से बच सकता है। फिर गीता के उपदेशों का आचरण कर, वह कर्तव्योन्मुख होकर, सुख व शांतिमय जीवन बिता सकता है।

दक्षिण काशी के नाम से विख्यात सुवर्णमुखी नदी तट पर स्थित 'श्रीकाळहस्ती' पुण्यक्षेत्र में श्री श्री श्री विद्याप्रकाशानंदगिरि स्वामीजी 'शुक ब्रह्माश्रमम्' की स्थापना कर, लोक कल्याणार्थ आध्यात्मिक कार्य किया करते थे। उन्होंने अपने जीवन काल में राज्य भर में विस्तृत पर्यटन कर, गीता का प्रवचन सरल व सुबोध तेलुगु में प्रवचन देते हुए पंडित व पामरों के अज्ञानांधकार को दूर करने का सफल प्रयास किया। इसीलिए तेलुगु भाषा-भाषी इनके व्याख्यानों से अधिक प्रभावित हो गये हैं। फिर स्वामीजी "गीता मकरंद" नामक बृहद् ग्रंथ को तेलुगु में प्रकाशित कर चिरस्मरणीय बन गये हैं। इस ग्रंथ की लोकप्रियता को देखकर, तिरुमल तिरुपति देवस्थान ने हिन्दी भाषा-भाषियों को भी इसका परिचय कराने का निर्णय किया है।

इस 'गीता मकरंद' ग्रंथ के प्रारंभ में मूल श्लोक, हर शब्द का अर्थ, तात्पर्य एवं व्याख्या के अलावा गीता के पाठकों के लिए अत्यावश्यक अनेकानेक विषयों

का समावेश किया गया है। वराह पुराण के अन्तर्गत उल्लिखित गीता माहात्म्य के अलावा, स्कांद पुराण, महाभारत और वैष्णवीय तंत्रसार आदि में वर्णित गीता माहात्म्य भी तात्पर्य सहित दिया गया है। गीता के जप की पद्धति एवं पारायण का विधान स्पष्ट रूप से दिया गया है।

गीता मंत्रमय है। गीता का हर श्लोक एक महामंत्र है। इस ग्रंथ में बताया गया है कि किन-किन श्लोकों का जप कितने बार, कितने दिन करना है और वैसा करने से क्या फल मिलेगा और लौकिक एवं पारमार्थिक फलों की प्राप्ति के लिए आवश्यक जप एवं साधनाओं का स्पष्टीकरण किया गया है। मात्र लौकिक फलों की प्राप्ति के अलावा, पारमार्थिक फलों की प्राप्ति के लिए आवश्यक संदेश दिया गया है। पद्मपुराण में उल्लिखित अध्यायों के अनुक्रम के अनुसार कथा के रूप में वर्णित गीता पारायण के फल का संक्षिप्त विवरण मिलता है। इस ग्रंथ के आरंभ (भाग - 1) में स्वामीजी की लिखी विस्तृत भूमिका है। उसमें गीता के मुख्य आशय, गीता तत्त्व एवं गीता की साधनाएँ आदि का स्पष्टीकरण विस्तृत रूप से किया गया है। पाठकों की सुविधा को ध्यान में रखकर ग्रंथ के प्रत्येक भाग के अंत में श्लोकों की अनुक्रमणिका भी दी गयी है।

तिरुमल तिरुपति देवस्थान द्वारा इस बृहद् ग्रंथ का चार भागों में प्रकाशन किया जा रहा है। दूसरे भाग में स्वामीजी द्वारा रचित गीता के तीसरे, चौथे, पाँचवें व छठे अध्यायों का विवरण व्याख्या के साथ दिया जा रहा है।

हम इस बृहद् ग्रंथ के प्रकाशन में सहयोग देनेवाले सभी आध्यात्मिक सेवा निरत व्यक्तियों का हृदय से आभार प्रकट करते हैं। श्री शुकब्रह्माश्रमम् के संस्थापक एवं चिरस्मरणीय तपस्वी श्री श्री श्री विद्याप्रकाशानंदगिरि स्वामीजी को शतशः प्रणाम अर्पित करते हैं। तेलुगु व हिन्दी भाषाओं में निष्णात तथा हिन्दी रूपांतरकार एवं हैदराबाद के निवासी श्री वेमूरि राधाकृष्णमूर्ति का आभार व्यक्त करते हैं। सहृदय पाठक इसका अध्ययन कर, अपना भविष्य उज्ज्वल करें। सर्वेश्वर भगवान श्रीकृष्ण की कृपा एवं स्वामीजी का अनुग्रह सभी लोगों पर सदा रहें।

कार्यनिर्वहणाधिकारी,

ति.ति.देवस्थान, तिरुपति।

विषय सूची

क्रम संख्या		पृष्ठ संख्या
१.	तीसरा अध्याय	१
२.	चौथा अध्याय	६१
३.	पांचवाँ अध्याय	१२३
४.	छठा अध्याय	१७५
५.	श्लोकों की अनुक्रमणिका	२६७

ॐ

श्री भगवद्गीता

तीसरा अध्याय

कर्मयोगः

कर्मयोग

अध्याय का शीर्षक-

'कर्मयोग' - संसार में कर्म किये बिना कोई रह नहीं सकता। हम जीव के कर्म निश्चित रहते हैं। उन कर्मों का पालन हमें करना पडता है। ईश्वर को समर्पित कर निष्काम भावना से कर्म करना चाहिए। इस अध्याय में स्पष्ट बताया गया कि मनुष्य को कर्म क्यों करना है ? कर्म न करने से कौन सा नुकसान होगा और कर्म करने से कौन सा हित होगा ? यह भी स्पष्ट बताया गया कि जीव को कौन सा कर्म बंधन में बांधता है और कौन सा कर्म मुक्ति दिलाता है। इन्ही कारणों से इस अध्याय का नाम कर्मयोग रखा गया।

इस अध्याय के प्रधान विषय-

(१) यह सिद्ध करना कि अनासक्त भावना से नियत कर्म करना उत्तम है।
(श्लोक १ से श्लोक ८ तक)

(२) यह स्पष्ट करना कि फल की अपेक्षा किये बिना जो कर्म किया जाय वह यज्ञ ही है। ऐसे यज्ञ के आचरण की आवश्यकता पर प्रकाश डालना।
(श्लोक ९ से श्लोक १६ तक)

(३) यह बताना कि ज्ञानी एवं साक्षात् भगवान दोनों लोक संग्रहार्थ कर्म करते ही रहते हैं। (श्लोक १७ से श्लोक २४ तक)

(४) यह स्पष्ट करते हुए कि अज्ञानी के लक्षण क्या हैं और ज्ञानी के लक्षण क्या हैं, साधकों को समझाना कि राग एवं द्वेष रहित होकर कर्म कैसे करना है ?
(श्लोक २५ से श्लोक ३५ तक)

(५) यह स्पष्ट करना कि काम और क्रोध आदि का स्वभाव क्या है और उन्हें जीतने का मार्ग क्याहै ? (श्लोक ३६ से श्लोक ४३ तक)

सम्बन्ध - दूसरे अध्याय सांख्ययोग के आरंभ में भगवानने अर्जुन को अखंड ज्ञान का उपदेश दिया। बीच में निष्काम कर्मयोग की थोडी सी प्रशंसा की। अंत में स्थितप्रज्ञ के लक्षण एवं इन्द्रिय निग्रह के साधन बता कर महोन्नत ब्राह्मीस्थिति तथा ज्ञान के अनुभव का बयान किया। भगवान के उपदेश सुन कर अर्जुन ने समझा कि भगवान कर्म से बढ कर ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं। तब उन्हें संशय हुआ कि यदि भगवान समझते हैं कि कर्म से ज्ञान ही श्रेष्ठ है तो मुझे युद्ध रूपी प्रचंड कर्म क्षेत्र में क्यों उतार रहे हैं। इस संशायत्मक हृदय से अर्जुनने भगवान से पूछा-

अर्जुन उवाच

१. ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥

शब्दार्थ- अर्जुन उवाच = अर्जुन बोले। जनार्दन = हे कृष्ण ! बुद्धिः = ज्ञान, कर्मणः = कर्म से, ज्यायसी = श्रेष्ठ, ते = आपका, मताचेत् = मत है तो , तत् = तब, केशव = हे कृष्ण, घोरे = भयंकर, कर्मणि = कर्म में, मां = मुझको, नियोजयसि = नियत करते हैं, किम = क्यों ?

भावार्थ - अर्जुन बोले-हे जनार्दन ! यदि आपको कर्मकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव ! मुझे भयङ्कर कर्ममें क्यों लगाते हैं ?

व्याख्या - यहाँ बुद्धि याने ज्ञान है। दूसरे अध्याय के ४९, ५०, ५१ श्लोक जब भगवानने सुनाये, और प्रकट किया कि कर्म से बुद्धियोग श्रेष्ठ है तब अर्जुन के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ होगा कि एक तरफ भगवान कहते हैं कि कर्मण्येवाधिकारस्ते (२-४७) (कर्म करने का ही तुझे अधिकार है), कुरु कर्माणि (२-४८) (कर्म करो), तस्माध्युध्यस्य (२-१८) (उठ, युद्ध कर),

परन्तु दूसरीओर कहते हैं कि दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय" (२-४९) (बुद्धियोग से सकाम कर्म अत्यंत तुच्छ है)। यह समझ कर कि भगवान के ये दोनों कथन परस्पर विरोधी हैं, अर्जुन अपना संशय प्रकट करने के लिए तैयार हो गये होंगे। परन्तु भगवान श्रीकृष्णने बताया कि " जब तू अपनी बुद्धि को समाधि में स्थित करेगा तब योग प्राप्त करेगा "। तब अर्जुनने उत्सुकता से भरे हृदय से जानना चाहा कि समाधिस्थ पुरुष (स्थितप्रज्ञ) के लक्षण क्या हैं ? तब भगवानने स्थितप्रज्ञ के लक्षणों को अच्छी तरह समझाया। तब अर्जुनने अपना पुराना सन्देह प्रकट किया। इस तीसरे अध्याय के प्रथम दो श्लोक अर्जुन के उसी सन्देह से संबंधित हैं। अर्जुन भगवान से प्रश्न करते हैं-

२. *व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।*
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥

शब्दार्थ - व्यामिश्रेणेव = मिश्रित से लग रहे, वाक्येन = वाक्यों से, मे = मेरी, बुद्धिं = बुद्धि को, मोहयसीव = परेशान कर रहे से,(हो), अहम = मैं, येन = जिससे, श्रेयः = श्रेय को, आप्नुयाम् = पा सकता हूँ, = तदेशकम् = ऐसे एक को (कर्म या ज्ञान), निश्चित्य = निश्चित कर, वद = कहिए।

भावार्थ - आप मिले हुए-से वचनोंसे मेरी बुद्धिको मानों मोहित कर रहे हैं। इसलिये उस एक बातको निश्चित करके कहिये जिससे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ॥

व्याख्या - अर्जुनने यहाँ दो बार 'इव' शब्द का प्रयोग किया। इससे प्रकट होता है कि यद्यपि भगवान श्रीकृष्णने वास्तव में परेशान करनेवाले संदिग्ध वचन नहीं कहे तो भी अज्ञान के कारण ही अर्जुन को ऐसा लगा होगा।

सम्बन्ध - इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् उनका निश्चित कर्तव्य भक्तिप्रधान कर्मयोग बतलाने के उद्देश्य से पहले उनके प्रश्नका उत्तर देते हुए यह दिखलाते हैं कि मेरे वचन 'व्यामिश्र' अर्थात् मिले हुए नहीं हैं वरन् सर्वथा स्पष्ट और

अलग-अलग हैं-

श्रीभगवानुवाच

३. *लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।*
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

शब्दार्थ - श्री भगवानुवाच = श्री भगवान बोले- अनघ = पाप रहित हे अर्जुन! पुरा = पूर्वकाल में। लोकेऽस्मिन् = इस लोक में। मया = मुझसे। सांख्यानां = सांख्यकों को (ज्ञानमार्गियों को)। ज्ञानयोगेन = ज्ञानयोग से। योगिनाम् = योगियों को। कर्मयोगेन = कर्मयोग से। द्विविधा = दो प्रकार के। निष्ठा = अनुष्ठान क्रम। प्रोक्ता = कहा गया।

भावार्थ - श्रीभगवान् बोले-हे निष्पापी! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरेद्वारा पहले कही गयी है। उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है॥

व्याख्या - भगवान श्रीकृष्णने अर्जुन को "अनघ" (निष्पापी) कह कर संबोधित किया। जब चित्त पाप रहित होता है तभी उसमें ब्रह्मविद्या अच्छी तरह प्रवेश करती है। मैल जब निकल जाता है तभी कपडे में रंग जमता है। पाप राहित्य के द्वारा अर्जुन ने वेदांत बोध तथा आत्मविश्लेषण के लिए अपने को उपयुक्त बना लिया। अर्जुन निष्पापी था, इसीलिए श्रीकृष्णने अर्जुन की योग्यता को पहचान कर गीताज्ञान रूपी उपदेश सुनाया।

अपनी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार जीव एक एक मार्ग के प्रति श्रद्धालु रहते हैं। कुछ तत्व विचार के प्रति प्रीति रखते हैं। ये सांख्य हैं। ज्ञानयोगी हैं। ऐसे साधकों को ज्ञानोपदेश ही उपयुक्त होता है। ऐसे साधकों को सृष्टि के आरंभ में भगवानने ज्ञानयोग के साधनाक्रम का उपदेश दिया। कुछ साधक कर्मयोग के प्रति प्रीति रखते हैं। वे योगी हैं। उनके लिए कर्मयोग का उपदेश ही उपयुक्त है। इसलिए उन्हें भगवान ने कर्मयोग का ही उपदेश दिया। हर व्यक्ति अपनी अपनी

साधना का अनुष्ठान कर सकता है। इस विषय में सब स्वतंत्र हैं। इसमें जोर जबर्दस्ती के लिए गुंजाइश नहीं है। क्योंकि किसी पर उसकी इच्छा के विरुद्ध दूसरा ज्ञान मढें तो वह कृत्रिम ही लगेगा। ऐसी हालत में वह उसकी उन्नति में सहायक नहीं बन सकता। एक मंजिल तक पहुँचने के लिए कई मार्ग हो सकते हैं। सब रास्ते उसी मंजिल तक जीव को पहुँचाते हैं। इसी कारण भगवान यहाँ स्पष्ट बताते हैं कि अपने अपने इच्छित मार्ग पर चल कर परमात्मा के पास पहुँच सकते हैं। यद्यपि गीता में कई योगों का जिक्र किया गया तथापि वे सब मुख्य रूप से इन दो (ज्ञानयोग एवं कर्मयोग) योगों के अंतर्गत ही आते हैं।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि पूर्वकाल में (सृष्टि के आरंभ में) इन दो योगों के बारे में बता दिया। इससे स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण त्रिकालाधीश हैं। देश काल आदि से छिन्न होनेवाले नहीं हैं। साक्षात् परमात्मा ही हैं।

प्रश्न - पूर्वकाल में भगवानने लोगों के तरने के निमित्त कितने मार्ग बताये ? वे क्या हैं ?

उत्तर - दो मार्ग बताये। (१) ज्ञानयोग (२) कर्मयोग।

सम्बन्ध - भगवान बताते हैं कि इन दोनों मार्गों में भी केवल कर्म त्यागने से मोक्ष नहीं मिलेगा।

४. *न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।*
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

शब्दार्थ - पुरुषः = मनुष्य। कर्मणाम् = कर्मों का। अनारम्भात् = आचरण न करने से। नैष्कर्म्यम् = निष्क्रिय आत्म स्वरूप की स्थिति। न अश्नुते = नहीं पाता। संन्यसनादेव = कर्म त्यागने मात्र से। सिद्धिम् = मोक्ष। न च समधि गच्छति = पा ही नहीं सकता।

भावार्थ - मनुष्य न तो कर्मों का आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको यानी योगनिष्ठा को प्राप्त होता है और न कर्मोंके केवल त्यागमात्रसे सिद्धि यानी सांख्यनिष्ठा को

ही प्राप्त होता है।

व्याख्या - इस श्लोक का प्रथम चरण कर्ममार्ग तथा द्वितीय चरण ज्ञान मार्ग का बोध करता है। जो साधक कर्ममार्ग का अनुसरण करता है वह यदि अपने नियत कर्तव्य का पालन न करे, निष्काम भावना से कर्म न करे तो उसका चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। तब वह निष्कामी होकर आत्मा की स्थिति तक पहुँच नहीं सकता। इसी तरह ज्ञान मार्ग पर चलनेवाला भी बाह्य सन्यास के त्याग एवं कर्म के त्याग से मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। क्यों कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए अन्तःसन्यास एवं वासना क्षय बहुत आवश्यक हैं। भगवान यहाँ स्पष्ट रूप से बताते हैं कि किसी भी दृष्टि से केवल कर्मत्याग मोक्ष की प्राप्ति का साधन नहीं बन सकता। निष्काम भावना से यदि कर्म न करें तो चित्त शुद्ध नहीं होता। चित्त शुद्धि के बिना ज्ञान का उदय नहीं होता। इसीलिए यहाँ भगवान ने स्पष्ट कर दिया कि कर्मों के आचरण के बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। आरंभ में हर कोई कर्माचरण का आश्रय ले तो अंत में ज्ञान निष्ठा मय आत्मानुभव पाता है। कर्म छोडने मात्र से कोई मोक्ष पा नहीं सकता। ऐसे लोग आलसी बन कर जीवन को व्यर्थ तपस्या में बिता देते हैं। इसलिए सावधान रहना चाहिए कि परब्रह्म के नाम पर कर्मरहित होकर साधक उधर ईश्वर, इधर संसार दोनों से कहीं हाथ धो न बैठें।

जीव को क्रमशः तम से रज, रज से सत्व और सत्व से विशुद्धसत्व की ओर चलना चाहिए। वह स्थिति पहले कर्माचरण से ही प्राप्त होती है। अकर्मण्यता से प्राप्त नहीं होती, इसीलिए भगवानने यहाँ स्पष्ट घोषित कर दिया कि नैष्कर्म्य सिद्धि रूप मोक्ष सामान्य नहीं है। वह स्थिति पहले कर्माचरण से ही प्राप्त नहीं होती। इसीलिए भगवानने यहाँ स्पष्ट घोषित कर दिया कि नैष्कर्म्य सिद्धि रूप मोक्ष सामान्य नहीं है। वह अचानक ऊपर से गिर पडनेवाला नहीं है। कर्माचरण या चित्तशुद्धि के लिए आवश्यक निष्काम कर्म किये बगैर वह स्थिति कभी प्राप्त नहीं हो सकती। यह भी बतला दिया कि अन्दर वासनाएँ भर कर

बाहर सब कर्म छोड दें तो मनुष्य कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। बाहरी सन्यास से लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती। कर्मों को त्यागना या न त्यागना मुख्य नहीं है, वासनाओं को मिटाना मुख्य है। तभी चित्त निर्मल बन सकता है। वह निर्मलता आरंभ में कर्माचरण से सुलभ बनती है। इसीलिए भगवान यहाँ निष्काम कर्मयोग का समर्थन करते हैं। इससे आलसियों और अकर्मण्य व्यक्तियों को सही सबक मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि हर जीव को चित्त शुद्धि के लिए कोई न कोई पावन कार्य भगवान को समर्पित कर अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न - किस व्यवहार से मोक्ष नहीं मिलता ?

उत्तर - (चित्त शुद्धि के लिए) कर्माचरण न करने और बाह्यसन्यास से मोक्ष नहीं मिलता।

प्रश्न - किस व्यवहार से मोक्ष की प्राप्ति की आशा है ?

उत्तर - निष्कामकर्म के आचरण से धीरे धीरे मोक्ष मिलता है। आन्तरिक सन्यास अर्थात् वासनाओं को त्यागने से मोक्ष मिल सकता है।

सम्बन्ध - कर्मयोग की आवश्यकता पर कई प्रकार से प्रकाश डालते हुए भगवान बतलाते हैं कि आरंभ में भौतिक रूप से कर्म का त्याग असंभव है।

५. ***न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।***
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

शब्दार्थ - कश्चित् = कोई भी। जातु = कभी भी। क्षणमपि = क्षणकाल भी। अकर्मकृत् = कर्म न करनेवाला बन। न हि तिष्ठति = नहीं रहता। हि = क्योंकि। प्रकृतिजै = प्रकृति से जन्मे। गुणैः =गुणों से। सर्वः = हर कोई। अवशः = अस्वतंत्र बन। कर्म = कर्म। कार्यते = कराये जाते हैं।

भावार्थ - निःसन्देह कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी कर्म किये नहीं रहता; क्योंकि सारा मनुष्यसमुदाय प्रकृतिजनित गुणोंद्वारा परवश हुआ कर्म करनेके लिये बाध्य किया जाता है।

व्याख्या - कर्म किये बिना एक पलभर भी कोई नहीं रह सकता। सांस लेना कर्म है। खाना कर्म है। चलना कर्म है। बोलना कर्म है। इनके बिना संसार में क्या कोई रह सकेगा ? इसीलिए भगवान बताते हैं कि सब के लिए कर्म अनिवार्य हैं।

ज्ञानी को छोड कर हर व्यक्ति माया एवं प्रकृति का वशवर्ती बना हुआ है। उस प्रकृति से संबंधित त्रिगुणों के अधीन होकर वह व्यवहार कररहा है। यहाँ '**सर्वः**' शब्द का प्रयोग किया गया है। उस शब्द का अर्थ है जीवन्मुक्त महानुभावों को छोड बाकी सब। क्यों कि वे त्रिगुणों से परे हैं। वे आत्मस्थिति तक पहुँच चुके हैं। माया उनका कुछ भी बिगाड नहीं सकती। फिर भी उनके शरीर और इन्द्रिय प्रकृति के अंतर्गत हैं। अतः वे निर्दिष्ट कर्म करते रहते हैं, फिर भी अकर्मी ही रहते हैं।

अज्ञानियों को निराश होने की जरूरत नहीं है। ईश्वर को समर्पित कर कर्मों का आचरण करते हुए शुद्ध कर्म के द्वारा अशुद्ध कर्म को और पुण्य के द्वारा पाप को मिटा देना चाहिए। निष्काम भावना से इस प्रकार कर्म करते रहें तो उनका चित्त निर्मल बन जाएगा और वे मोक्ष प्राप्त कर सकेंगे।

सम्बन्ध - भगवान् कहते हैं- इन्द्रियोंकी क्रियाओं का त्याग कर देना कर्मोंका त्याग नहीं है।

६. ***कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।***
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

शब्दार्थ - यः = जो। कर्मेन्द्रियाणि = कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों को। संयम्य = संयमित कर। मनसा = मन से। इन्द्रियार्थान् = इन्द्रियों के विषयों की। स्मरन् = चिंता करते हुए। आस्ते = है। विमूढात्मा = अविवेकी मनवाला। सः = वह। मिथ्याचारः = मिथ्याचरणवाला। उच्यते = कहा जाता है।

भावार्थ - जो मूढबुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियोंको हठपूर्वक ऊपर से रोककर मन से उन इन्द्रियोंके विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात्

दम्भी कहा जाता है।

व्याख्या - यहाँ कर्मेन्द्रियाणि शब्द का अर्थ है कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों। क्यों कि कुछ इन्द्रियों के बारे में ही कहा जाय तो दम्भी व्यक्ति का चित्रण अधूरा रह जाएगा।

'संयम्य' - यह साधक का संयम नहीं है। क्यों कि ऐसे उत्तम संयमवाला कभी भी मिथ्याचारी नहीं हो सकता। दम्भी बन कर इन्द्रियों को जो निठल्ले रखता है, पर मन को तीनों लोकों में घुमाता है उसके बारे में यहाँ कहा गया है। पर प्रारंभ में कुछ साधक भी ध्यान मग्न मन को ईश्वर में स्थित न कर दसों दिशाओं में दौडाते रहते हैं। उनके और मिथ्याचारियों के व्यवहार में फरक होता है। मुमुक्षु विषयों की ओर दौडनेवाले मन को संयमित कर उसे आत्मा में स्थित करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु दम्भी ऐसा नहीं करता। साधक का उद्देश्य उत्तम होता है, पर दम्भी का उद्देश्य अदम्य होता है। मिथ्याचारी या दम्भी का ध्यान कृत्रिम है, बकध्यान है।

इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया कि आध्यात्मिक साधना शुरू करते समय मुमुक्षु को उसकी पद्धति अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। नहीं तो कुमार्गगामी बन जाएगा। महापुरुषों के बारे में समझ लेना चाहिए। इन्द्रिय निग्रह संबंधी सूत्र मात्र ग्रहण कर उसकी गहराई तक न जावें और उसे अच्छी तरह न जानें तो विषय भोगों का दबदबा बना रहेगा। इन रहस्यों से परिचित भगवान श्रीकृष्ण ऐसे लोगों को सुधारने के लिए गीता शास्त्र में जहाँ जहाँ साधकों को सचेत करते रहे हैं।

संसार में योगियों की तरह अभिनय करनेवाले कुछ अज्ञानी रहते हैं। वे शारीरिक रूप से एक जगह बैठ कर तपस्या करते रहते हैं, परन्तु उनका मन विषयवासनाओं में लीन रह कर तीनों लोकों में संचार करता रहता है। फल स्वरूप वे इधर इन्द्रिय सुख से वंचित होते है; उधर दैवी सुख से भी वंचित रहते हैं। इसीलिए भगवानने ऐसे लोगों को 'विमूढ' कहा है।

स्वयं इन्द्रियों में विषयों के अनुभव की शक्ति, समझने की शक्ति नहीं है। जब मन उनसे मिलता है तब इन्द्रियों में वह शक्ति आ जाती है। इसलिए मन के साथ इन्द्रियों का निग्रह न करने से कोई फायदा नहीं होता। वैसा करें तो वह मिथ्याचार बन जाएगा। मन को भी वश में करने पर अगर इन्द्रियाँ देह की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए खान पान संबंधी व्यवहारों में लगी रहती हैं तो भी खतरा नहीं होता। इन बातों का स्पष्टीकरण गीताचार्य अगलेश्लोक में करते हैं।

प्रश्न - मिथ्याचार माने क्या है ?

उत्तर - मात्र इन्द्रियों को संयमित कर मन से तीनों लोकों में संचार करना और विषयों का चिन्तन करते रहना मिथ्याचार है।

सम्बन्ध - इस प्रकार केवल ऊपरसे इन्द्रियोंको विषयोंसे हटा लेनेको मिथ्याचार बतलाकर, अब आसक्तिका त्याग करके इन्द्रियोंद्वारा निष्कामभावसे कर्तव्यकर्म करनेवाले योगीकी प्रशंसा करते हैं-

७. ***यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।***
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।

शब्दार्थ - अर्जुन = हे अर्जुन ! यस्तु = जो। इन्द्रियाणि = इन्द्रियों को। मनसा = मन से। नियम्य = नियुक्त कर। कर्मेन्द्रियैः = उन कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा। कर्मयोगम् = कर्मयोग को। असक्तः = संगम रहित होकर। आरभते = कररहा है। सः = वह। विशिष्यते = श्रेष्ठ है।

भावार्थ - किंतु हे अर्जुन ! जो पुरुष मनसे इन्द्रियों को वशमें करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है।।

व्याख्या - छठे श्लोक के अनुसार इस श्लोक में भी 'इन्द्रियाणि, कर्मेन्द्रियैः' कहने से सब इन्द्रियों का उल्लेख हुआ। क्यों कि कर्मेन्द्रियों के द्वारा आचरण में लाया जानेवाला कर्मयोग अपूर्ण होता है।

मनुष्य जब मन का निग्रह कर, इन्द्रियों को संयम में रख कर विषय वासनाओं से दूर रह कर निष्कामभाव से कर्म करता है तब वह बुद्ध बनता है। इन्द्रियों को मन के वश में रखना चाहिए। वास्तव में मन ही इन्द्रियों को उत्तेजित करने में ईंधन का सा काम करता है। ऐसे मन सहित इन्द्रियों को संयमित कर विषय वासनाओं को दूर भगा कर मनुष्य इन्द्रियों के द्वारा काम करे तो भी दोष नहीं होगा इसीलिए महापुरुष पहले मन को काबू में कर फिर इन्द्रियों को संयमित कर लोक हितार्थ काम करते रहते हैं।

प्रश्न - कर्मयोग का परिशीलन किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर - इन्द्रियों तथा मन का निग्रह कर, उन संयमित इन्द्रियों के द्वारा आसक्ति रहित बुद्धि से कर्मयोग का परिशीलन करना चाहिए।

सम्बन्ध - अर्जुन जो यह पूछा था कि आप मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? उसके उत्तरमें ऊपरसे कर्मोंका त्याग करनेवाले मिथ्याचारीकी निन्दा और कर्मयोंगीकी प्रशंसा करके अब उन्हें कर्म करनेके लिये आज्ञा देते हैं।

८. *नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मण: ।*
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्ये दकर्मण: ॥

शब्दार्थ - त्वम् = तुम । नियतम् = नियत । कर्म = कर्म । कुरु = करो । अकर्मण: = कर्म किये बिना रहने से। कर्म = कर्म (करना)। ज्यायोहि = श्रेष्ठ है। अकर्मण: = कर्म न करने से। ते = तुम्हें। शरीरयात्रा पि च = शरीर की यात्रा भी। प्रसिद्ध्येत = सिद्ध न होगा।

भावार्थ - तू शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म कर; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करनेसे तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा।

व्याख्या - इस अध्याय के आरंभ में अर्जुनने श्रीकृष्ण से पूछा कि स्पष्ट बता दें कि मुझे क्या करना चाहिए ? उसके जवाब में श्रीकृष्णने यहाँ स्पष्ट कह दिया कि नियतं कुरु कर्म (कर्म का त्याग न कर तू शास्त्र नियत कर्म कर) नियत कर्म से

चित्त शुद्ध होगा। ज्ञानोदय होगा। कर्म न करके बैठे रहने से कुछ भी नहीं मिलेगा। इससे काम करना ही अच्छा है। वह भी सत्कर्म और ईश्वर को समर्पित कर्म हो तो श्रेष्ठ है।

और एक दृष्टि से देखा जाय तो कर्म न करें तो शरीर का टिका रहना संभव नहीं है। देह की यात्रा भी ठीक तरह से नहीं चलेगी। इस प्रकार भगवान कर्म के आचरण को प्रोत्साहित करते हैं।

प्रश्न - कर्म करना श्रेष्ठ है या न करना ?

उत्तर - करना ही श्रेष्ठ है।

प्रश्न - किस प्रकार का कर्म करना चाहिए ?

उत्तर - शास्त्र नियत कर्म करना चाहिए।

प्रश्न - कर्म न करें तो हानि क्या है ?

उत्तर - कर्म न करें तो (१) चित्त शुद्ध नहीं होगा, चित्त शुद्धि के बिना ज्ञान का उदय नहीं होगा। ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं मिलेगा। (२) कर्म न करें तो देह की यात्रा भी नहीं चलेगी।

सम्बन्ध - भगवान कर्मबंधन से छूटने का उपाय बताते हैं।

९. ***यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।***
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

शब्दार्थ - कौन्तेय = हे अर्जुन ! यज्ञार्थात् = यज्ञ के निमित्त (भगवद्विषयक), कर्मणः = कर्म से। अन्यत्र = अन्य कर्म से। अयं लोकः = यह लोक (लोग)। कर्म बन्धनः = कर्म से बंधा हुआ है। (इसलिए), तदर्थम = उस यज्ञ के निमित्त। कर्म = कर्म। मुक्तसङ्गः = संग रहित होकर। समाचर = भली भांति कर।

भावार्थ - यज्ञके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंके अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ यह मनुष्यसमुदाय कर्मोंसे बँधता है। इसलिये हे अर्जुन ! तू आसक्तिसे रहित होकर उस यज्ञके निमित्त ही भलीभाँति कर्तव्य कर्म कर।

व्याख्या - गीता में श्रीकृष्णने यज्ञ, सन्यास और त्याग आदि शब्दों के नूतन अर्थ प्रकट किये। उन्होंने यज्ञ का वर्णन अग्निहोत्र, मंत्र, तंत्र, और ऋत्विक आदि से एक क्रिया के रूप में नहीं किया। भगवद्विषयक या परहितकारी क्रिया के रूप में उसका वर्णन किया। ऐसा यज्ञ सब के लिए सुलभ होगा। इसलिए ऐसे यज्ञ का आचरण कर हर कोई तर सकता है। आ म तौर पर लोग समझते हैं कि कर्म जीव को सांसारिक बन्धन में बंधता है। कुछ लोग डराते हैं कि पुण्य कार्य करोगे तो उनका फल भोगने के लिए दूसरा जन्म लेना पडेगा। परन्तु गीताचार्यने ऐसे भय को दूर कर दिया। भगवानने स्पष्ट कहा कि कामना के साथ, फल की इच्छा कर जो कर्म किया जाता है वह मनुष्य को सांसारिक बन्धन में बंधता है। निष्काम बुद्धि से जो कर्म किया जाता है वह बंन्धन में नहीं बाँधता। भगवद्विषयक कर्म या लोकहितकारी कर्म फल की अपेक्षा किये बगैर किया जाय तो वह कभी भी जीव को बन्धन में नहीं बांधता। वह निष्कामकर्म चित्तशुद्धि के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति का साधन बनेगा। कर्मसंग होकर करें तो बन्धन में बांधेगा, संग रहित करें तो मोक्ष की प्राप्ति कराएगा। इसलिए कर्म में कोई दोष नहीं है। उसे करने की पद्धति में दोष है। आसक्ति के साथ कर्म करने में ही दोष है।

श्रीकृष्णने अर्जुन को कर्म करने का आदेश देकर कर्मयोग को प्रोत्साहित किया। परन्तु सचेत किया कि कर्म करने की पद्धति जानना अत्यंत आवश्यक है। कर्म रहस्य जान कर कर्म करना चाहिए, नहीं तो उसके साथ बंधजाओगे। कर्म रहस्य के बारे में समझाते हुए उन्होंने उसके दो सूत्र बताये। (१) यज्ञ के निमित्त (ईश्वर को प्रीतिकर तथा लोकहितकारी) कर्म ही करना चाहिए (२) फल की अपेक्षा के बिना कर्म करना चाहिए। ऐसा कर्म सामान्य होने पर भी महायज्ञ के रूप में बदल जाएगा। जीव का हित होगा। तब कर्म ध्यान के रूप में बदल जाएगा। बन्धन कारक न होकर मोक्षदायक बन जाएगा।

प्रश्न - कैसा कर्म बन्धन में बांध नहीं देगा ?

उत्तर - यज्ञ के निमित्त किया जानेवाला (भगवान को प्रीतिदायक एवं लोक

हितकारी) कर्म बन्धन में नहीं बन्धेगा। फल की अपेक्षा के बिना उसे करना चाहिए।

सम्बन्ध - भगवान ऐसे यज्ञ की महत्ता बतलाते हैं।

१०. सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

शब्दार्थ - प्रजापतिः = ब्रह्मदेव। पुरा = पूर्व काल में (सृष्टि के आरंभ में), सह यज्ञाः = यज्ञों से युक्त। प्रजाः = लोगों का। सृष्ट्वा = सृजन कर। अनेन = इससे (इन यज्ञों से), प्रसविष्यध्वम् = तरक्की करो। एषः = यह। वः = तुम्हें। इष्ट काम धुक् = इष्टदायक कामनाएँ प्रदान करनेवाला। अस्तु = बने। उवाच = बोले।

भावार्थ - प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंको रचकर उनसे कहा कि तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो।

व्याख्या - जब आदमी का सृजन हुआ तब बन्धनों से उसके मुक्त होने के साधनों का भी सृजन हुआ। यह बात इस श्लोक में बतायी गयी। भगवान करुणा के सागर हैं। देखिएँ आरंभ में ही सोचा कि लोग जन्म लेकर सांसारिक बन्धनों में बंध कर जनन मरण रूपी महा प्रवाह में बह जाएँगे। अशांति होकर हाहाकार करेंगे। इन्हें दुःखों से कैसे बचाया जाय। इसी दृष्टि से उन्होंने मनुष्यों के सृजन के साथ साथ कई ऐसे यज्ञों का भी सृजन किया जो मोक्ष की प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं। यज्ञ का मतलब है कि भगवद्विषयक, परोपकारी तथा आत्मध्यान संबंधी क्रिया। इन यज्ञों के बारे में अगले अध्याय में विस्तार से बताया जाएगा।

'इष्ट कामधुक्' - इस शब्द के प्रयोग के द्वारा कहा गया कि ये यज्ञ कामधेनु की भांति लोगों की इच्छाओं की पूर्ति कर उन्हें पावन पथगामी बनाएँगे। यह भी

कहा गया कि जीव जिस दुःखराहित्य एवं परमानंद की प्राप्ति की इच्छा ज्यादातर करता है उन्हें इन यज्ञों के आचरण के द्वारा जीव जरूर प्राप्तकर सकेगा। इसीलिए 'इष्टकामधुक्' कहा गया है।

'प्रसविष्वध्वम्' कहा गया है। इस के द्वारा स्पष्ट किया गया कि जीव के नैतिक और आध्यात्मिक विकास में ये यज्ञ बडे सहायक हैं।

प्रश्न - ब्रह्मदेवने लोगों के सृजन के साथ और किनका सृजन किया ?

उत्तर - यज्ञों का (सत्कार्य एवं दैवीकार्य) सृजन किया।

प्रश्न - उनके प्रयोजन क्या हैं ?

उत्तर - वे जीव की आध्यात्मिक उन्नति करते हैं। कामधेनु की तरह उसकी इच्छाओं (शांति, सुख, मोक्ष) की पूर्ति करते हैं।

> ***११. देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।***
> ***परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्य थ ॥***

शब्दार्थ - अनेन = इन यज्ञों से। देवान् = देवताओं को। भावयत = प्रसन्न करो। ते देवाः = वे देवता। वः = तुम्हें। भावयन्तु = (वर्षा आदि से) प्रसन्न करें। (इस प्रकार) परस्परम् = एक दूसरा। भावयन्तः = प्रसन्न करनेवाले होकर। परम = उत्कृष्ट। श्रेयः = श्रेय को। अवाप्स्यथ = पा सकते हैं।

भावार्थ - तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थ भाव से एक दूसरे को उन्नत करते हुए तुम लोग परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे।

व्या। व्या। - चूंकि स्वयं परमेश्वर ही कई देवताओं के रूप में हैं इसलिए किसी भी देवता की पूजा एवं अर्चना करें वह स्वयं परमेश्वर की ही होगी। अतः यज्ञों द्वारा जीव भगवान की आराधना करें तो भगवान जीवों पर अनुग्रह करेंगे। उन उन देवताओं के माध्यम से जीवों को उन उन तत्वों का सत्फल मिलेगा। इस प्रकार जीव यज्ञों (निष्काम सत्कर्म) के द्वारा भगवान की आराधना करे तो वे अनुग्रह

करेंगे। ज्ञान के द्वारा श्रेयोदायक मोक्ष प्रदान कराएंगे।

''श्रेयः परम्'' - संसार में कई श्रेय हैं। सब से श्रेष्ठ श्रेय है मोक्ष। भगवान का आराधक वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसीलिए मोक्ष उत्तम श्रेणी का श्रेय कहा गया। भगवान की कृपा से ही वह जीव को मिल सकता है। सर्वेश्वर की कृपा के बिना कोई माया पर विजयी नहीं हो सकता। जीव एवं भगवान दोनों में संबंध न हो तो कोई भी संसार में तरक्की नहीं कर सकता। सांसारिक वस्तुओं से ज्यादा भगवान के साथ जीव को संबंध बढाना चाहिए। दूसरे मनुष्य कभी जीव की मदद नहीं कर सकते हैं। उनके साथ संबंध इस जन्म में समाप्त हो जाता है। लेकिन भगवान के साथ जीव का संबंध वैसा नहीं है। ईश्वर जन्म जन्मांतर तक साथ रह कर जीव की मदद करते हैं। जीव की साधना की तीव्रता के अनुसार इसी जन्म में मोक्ष प्राप्त करा सकते हैं। इसलिए उस सर्वोत्तम ईश्वरीय संबंध को भूलना नहीं चाहिए। यही बात इस श्लोक में बतायी गयी है।

प्रश्न - परम श्रेयोदायक मोक्ष किस तरह प्राप्त होगा ?

उत्तर - यज्ञों (निष्काम सत्कर्म) के द्वारा ईश्वर या देवताओं की आराधना से मोक्ष प्राप्त होगा। (धीरे धीरे चित्त शुद्ध होगा। इससे ज्ञान का आविर्भाव होगा। उस ज्ञान से मोक्ष मिलेगा)।

सम्बन्ध - भगवान बताते हैं कि ईश्वर से प्राप्त पदार्थ ईश्वर को अर्पित किये बिना जो खुद स्वीकार करता है वह चोर है।

१२. इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

शब्दार्थ - यज्ञ भाविताः = यज्ञ के द्वारा खुश किये गये। देवाः = देवता। सः = तुम्हारे लिए। इस्टान् = इष्टदायक। भोगान् = भोग। दास्तन्तेहि = दे सकते हैं। तैः = उनसे। दत्तान् = दिये गये। एभ्यः = इनके लिए (उन देवताओं को)। अप्रदाय = अर्पित किये बिना। यः = जो। भुङ्क्ते = खाता है। सः = वह। स्तेन एव = चोर ही है।

भावार्थ - यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुमलोगोंको बिना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको बिना दिये स्वयं भोगता है, वह चोर ही है।

व्याख्या - यज्ञों के द्वारा आराधना करने पर ईश्वर या देवता आहार आदि भोग्य पदार्थ उन्हें प्राप्त कराते हैं। भगवदत्त उन पदार्थों को फिर भगवान को अर्पित किये वगैर या भगवत्स्वरूप दूसरे प्राणियों को भी दिये बगैर जो खुद खाता है वह् चोर कहा गया। 'चोर' शब्द की परिभाषा क्या है ? जो अपनी चीज नहीं है उसे मूल्य चुकाये बिना लेनेवाला चोर है। आहार आदि पदार्थ भगवान के हैं। हमारे नहीं हैं। क्यों कि हमने उन्हें पैदा नहीं किया। ईश्वरने ही वर्षा के द्वारा, फसल की पैदावार करायी। उसका मूल्य ईश्वर को चुकाना चाहिए। भक्ति ही उसका मूल्य है। कृतज्ञता का ज्ञापन ही उसका मूल्य है। अतः उस अन्न को कृतज्ञता के साथ ईश्वर को अर्पित करना चाहिए। उसका थोडा अंश प्राणियों को देना चाहिए। ऐसा न करें तो वह चोरी ही होगी। अतः भगवानने यहाँ स्पष्ट कह दिया कि भगवान के अनुग्रह से जो अनादि पदार्थ मिलते हैं उन्हें फिर से ईश्वर को अर्पित किये बिना जो उनका भोग करता है चोर है।

लेकिन आज कितने लोग संसार में ऐसा कर रहे हैं ? वह चाहे जितना भी बडा धनवान क्यों न हो, विद्वान क्यों न हो, राजा ही क्यों न हो, वह लोगों की दृष्टि में चोर है तो संसार में उसे दण्ड मिलता है। भगवान की दृष्टि में जो चोर है उसे दण्ड क्यों नहीं मिलेगा ? उसे ईश्वर आवश्यक दण्ड अवश्य देगा। इसलिए मुमुक्षुओं को चाहिए कि उनके पास जो कुछ हैं, उसमें से थोडा ही सही भूतकोटि को समर्पित करे। जिस पदार्थ का अनुभव वह करता है उसे पहले ब्रह्मार्पण, या कृष्णार्पण या रामार्पण करके उसके बाद ही उसका भोग करना चाहिए। इस प्रकार ईश्वर को अर्पित करने की बुद्धि, भक्तिभाव एवं परोपकार की दृष्टि अपनानी चाहिए। तब मुमुक्षुओं का जीवन धन्य बनेगा।

प्रश्न - यज्ञों के द्वारा (निष्काम सत्कर्म) आराधित भगवान लोगों को क्या प्रदान करेगा ?

उत्तर - उनको अन्न आदि जो भोग्य पदार्थ चाहिए उन्हें भगवान देगा।

प्रश्न - उनकी प्राप्ति के बाद जीव को क्या करना चाहिए ?

उत्तर - उन्हें ईश्वर या उन देवताओं को अर्पित करना चाहिए।

प्रश्न - वैसा न करने पर क्या होगा ?

उत्तर - तब वह जीव चोर माना जाएगा। दण्ड भोगेगा।

सम्बन्ध - जो जीव पदार्थों को ईश्वर के चरणों में समर्पित करते हैं उन्हें जो सत्फल मिलते हैं उनका और जो भगवान को समर्पित नहीं करते उन्हें जो दुष्फल मिलते हैं उनका विवरण भगवान बतलाते हैं-

१३. *यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।*
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

शब्दार्थ - यज्ञ शिष्टाशिनः = यज्ञ में भगवदर्पण कर बाकी पदार्थ खानेवाले। सन्तः = संत पुरुष। सर्वकिल्बिषैः = सबपापों से । मुच्यंन्ते = छूट जाते हैं। येतु = जो। आत्म कारणात् = अपने लिए। पचन्ति = पाचन करते हैं (खाते हैं)। पापाः = पापी। ते = वे। अघम् = पाप को। भुञ्जते = खाते हैं।

भावार्थ - यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीरपोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि भगवान की आराधना का यज्ञ कर इससे प्राप्त पदार्थ ईश्वर को समर्पित कर बाकी बचा पदार्थ खानेवाले सब पापों से मुक्त होते हैं। '**सर्वकिल्बिषैः**' कहा गया। मतलब है कि एक दो नहीं सब पापों से मुक्त होते हैं। इससे स्पष्ट है कि यज्ञ, ईश्वरार्पण, त्याग तथा परोपकार बडे शक्तिशाली

हैं। इसीलिए ईशावास्योपनिषद् के आरंभ में कहा गया कि " **तेनत्यक्तेन भुञ्जीथाः** " अर्थात् तेरे पास जो कुछ है उसमें से थोडा त्याग कर बाकी खाओ। तेरे पास जो कुछ है उसे भगवान को अर्पित करो, बचापदार्थ खाओ। इसीलिए भगवान कहते हैं कि अपने स्वार्थ के लिए खानेवाले, ईश्वर को अर्पित किये बिना खानेवाले और अन्य प्राणी को कुछ भी अर्पित न कर खानेवाले पाप को खानेवाले हैं। अतः स्वार्थ ही पाप का मूल कारण है। स्वार्थ का त्याग ही मोक्ष का कारण है। अतः ईश्वर को अर्पित कर, भूत कोटि को कुछ समर्पित कर बचा हुआ रूखा सूखा खावें तो वह अमृत जैसा लगेगा।

आमतौर पर मनुष्य के दैनिक में फल आदि तोडते समय, आटा पीसते समय एवं झाडू देते समय अनजान में थोडी सी जीव हिंसा होती है। इसीको 'पंचसून' कहते हैं। उस पाप के परिहार के लिए पांच यज्ञों का सूत्रपात हुआ। (१) देवयज्ञ (होम), (२) पितृयज्ञ (तर्पण) (३) नृयज्ञ (अतिथि पूजा) (४) ब्रह्मयज्ञ (वेदाध्ययन) तथा (५) भूतयज्ञ (अन्यप्राणियों को अन्न खिलाना)। इन पांचों यज्ञों के अलावा और भी कई परोपकार से संबंधित यज्ञ हैं जिनको आचरण में लाकर यज्ञ शेष को ही खाते रहना आवश्यक है। ऐसे लोग पापों से मुक्त होते हैं।

प्रश्न - यज्ञशेष खानेवालों को मिलनेवाले फल क्या हैं ?

उत्तर - वे सब पापों से मुक्त होते हैं।

प्रश्न - केवल अपने स्वार्थ के लिए खानेवालों को मिलनेवाले फल क्या हैं ?

उत्तर - वे पाप ही प्राप्त करते हैं। खुद पाप के रूप में रहते हैं।

सम्बन्ध - यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यज्ञ न करनेसे क्या हानि है ? इसपर सृष्टिचक्रको सुरक्षित रखनेके लिये यज्ञ की आवश्यकताका प्रतिपादन करते हैं-

१४. अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

१५. कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

शब्दार्थ - अन्नात् = अन्न से। भूतानि = प्राणी। भवन्ति = उत्पन्न होते हैं। पर्जन्यात् = बादल से। अन्नसंभवः = अन्न उत्पन्न होता है। यज्ञात् = यज्ञ से। पर्जन्यः = बादल। भवति = उत्पन्न होते हैं। यज्ञः = यज्ञ। कर्मसमुद्भवः = सत्कर्मों के आचरण से उत्पन्न होते हैं। कर्म = सत्कर्म। ब्रह्मोद्भवम् = वेदों से उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म = वेद। अक्षरसमुद्भवम् = अक्षर परमात्मा से उत्पन्न होते हैं। तस्मात् = इसलिए। सर्वगतं = सर्वत्र व्याप्त। ब्रह्म = ब्रह्म। नित्यं = हमेशा। यज्ञे = यज्ञ में। प्रतिष्ठितम् = प्रतिष्ठित है।विद्धि = जान लो।

भावार्थ - सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं। अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है। वृष्टि यज्ञ से होती है। यज्ञ विहित कर्मों से होना है। कर्म समुदाय को वेद से उत्पन्न और वेद को अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ जान। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

व्याख्या -

धर्मचक्र

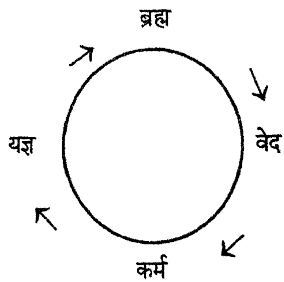

ब्रह्म से वेद, वेद से सत्कर्म और सत्कर्म से यज्ञ उत्पन्न होते हैं। यहाँ कहा गया कि यज्ञ में ब्रह्म सदा प्रतिष्ठित रहते हैं। इसीलिए यज्ञ आदि पवित्र, चित्त शुद्धि के कारक एवं मोक्षदायक हैं। (ऊपर के चक्र में चूंकि वर्षा, अन्न और शरीर यज्ञ के अंतर्गत हैं, अतः उनका उल्लेख नहीं किया गया।) दैवकार्य सामान्य नहीं हैं। गीताचार्य बताते हैं कि उसमें स्वयं व्यापक परब्रह्म सुप्रतिष्ठित हैं। इसलिए सब को उन्हें आचरण में लाकर ब्रह्म के दर्शन करना चाहिए।

"**यज्ञाद्भवति पर्जन्यः**" - कहा गया कि यज्ञ से वर्षा होती है। इससे स्पष्ट है कि यज्ञों के अभाव से ही अकाल पडता है। इसलिए देश की समृद्धि एवं आत्मशुद्धि के लिए लोगों को सत्कर्म करना चाहिए।

प्रश्न - यज्ञ पवित्र क्यों हैं ?

उत्तर - उनमें व्यापक ब्रह्म सुप्रतिष्ठित हैं। इसलिए उनके आचरण से जीवों को ब्रह्म का दर्शन होते हैं।

सम्बन्ध - भगवान बतलाते हैं कि यज्ञरूप सत्कर्म न करनेवालों का जीवन व्यर्थ है।

१६. *एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।*
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

शब्दार्थ - पार्थ = हे अर्जुन ! यः = जो। एवम् = इस प्रकार। प्रवर्तितम = प्रवर्तित। चक्रं = जगत् चक्र को। इह = इस लोक में। न अनुवर्तयति = अनुसरण कर बर्ताव नहीं करता। सः = वह। अघायुः = पाप युक्त जीवनवाला। इन्द्रियारामः = इन्द्रिय संबंधी भोगासक्त। (बन कर)। मोघम = व्यर्थ। जीवति = जी रहा है।

भावार्थ - हे पार्थ ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।

व्याख्या - यज्ञ (निष्काम भाव से किये जानेवाले सत्कर्म) सामान्य नहीं हैं। उनमें सर्वव्यापी परब्रह्म की शक्ति निहित है। अतः उनका अनुसरण करनेवाला परम श्रेय (मोक्ष) पाता है। अनुसरण न करनेवाला अपना जीवन व्यर्थ करता है। क्यों कि वह ईश्वर को भूल कर, दृश्य वस्तु पर विश्वास करके विषय वासनाओं में लीन होकर पाप जीवन बिताता है। वह अपना जीवन व्यर्थ करता है। परन्तु यज्ञ करनेवाला भगवान के अनुग्रह का पात्र बन कर मोक्ष प्राप्त करता है। एक का

पापी जीवन है तो दूसरे का पुण्यमय जीवन है। एक इन्द्रियराम है तो दूसरा आत्मराम है। एक का जीवन व्यर्थ है तो दूसरे का जीवन सार्थक है। रामतीर्थने स्पष्ट बताया कि भगवान को भूलना ही पाप है। जो सत्कर्म नहीं करते वे पापों के भार से दब जाते हैं। ऐसे लोगों को गीताचार्यने '**अघायु**' कहा। दृश्य वस्तु के पीछे दौडनेवाले इन्द्रियों के दास बने रहते हैं। उन्हें गीताचार्यने '**इन्द्रियराम**' कहा। उनका जीवन किसी के काम नहीं आता। अतः उनका '**व्यर्थ जीवन**' कहा गया है। मनुष्य जन्म पाकर ईश्वर को भूल कर इन्द्रिय सुखों में डूबते हैं तो कीडे मकोडों के रूप में जन्म लेते हैं। अतः भगवान के आदेश के अनुसार मानव जीवन को सार्थक बनाना चाहिए।

प्रश्न - यज्ञ आदि से संबंधित धर्मचक्र का अनुसरण न करनेवालों का जीवन कैसा होता है ?

उत्तर - (१) वह पापमय जीवन बिताता है। (२) इन्द्रियों के वश में रहता है (३) जीवन व्यर्थ गँवाता है।

सम्बन्ध - यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त प्रकारसे सृष्टि-चक्रके अनुसार चलनेका दायित्व किस श्रेणीके मनुष्यों पर है ? इसपर परमात्माको प्राप्त सिद्ध महापुरुषके सिवा इस सृष्टिसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी मनुष्योंपर अपने-अपने कर्तव्यपालनका दायित्व है - यह भाव दिखलानेके लिये दो श्लोकोंमें ज्ञानी महापुरुषके लिये कर्तव्यका अभाव और उसका हेतु बतलाते हैं-

१७. यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

शब्दार्थ - यः मानवःतु = जो मनुष्य। आत्मरतिः एव = आत्मा में ही रमनेवाला। आत्म तृप्तः च = आत्मा में ही तृप्ति पानेवाला। आत्म नि एव = आत्मा में ही। संतुष्ट च = संतोष पानेवाला। स्यात् = होगा। तस्य = उसे। कार्यम् = करने योग काम। न विद्यते = नहीं है।

भावार्थ - परन्तु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण कर और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट हो उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।

व्याख्या - कर्मयोग के अनुशीलन का कर्तव्य कुछ लोगों को छोड सब का है। ऐसे कुछ लोगों के बारे में इस श्लोक में बताया गया है। आत्माराम, आत्मतृप्त तथा आत्मसन्तुष्ठ नामक तीन प्रकार के महापुरुषों को कर्मयोग संबंधी अनुशीलन करने की जरूरत नहीं है। क्यों कि सब कर्मो का लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार है। वह उन्हें प्राप्त है। कर्म का फल वे भोग चुके हैं। इसलिए शास्त्रोंने उनके लिए 'कर्तव्य' हटा दिया। फिर भी वे महापुरुष लोक हितार्थ सत्कर्म करते रहते हैं। वे कर्म करें या न करें कोई दोष नहीं। लेकिन यह स्थिति सामान्य जनों के लिए लागू नहीं होती। संसार में आत्मसाक्षात्कार करनेवाले महापुरुष बहुत कम रहते हैं। बाकी सभी को कर्म करना ही पडेगा। कृतकृत्य बनना ही पडेगा। पूर्णस्थिति को प्राप्त न होने पर भी, पूर्णता का अभिनय करके अकर्मण्य नहीं बनना चाहिए। ऐसा करना मिथ्याचार कहलांएगा।

संसार में आज ज्यादा लोग विषयरति, विषयतृप्ति तथा विषय संतुष्टि से बर्ताव करते हैं। इससे उन्हें इहलोक में या परलोक में कहीं भी कोई फल नहीं मिलेगा। इसलिए इस पद्धति में परिवर्तन लाना आवश्यक है। उन्हें आत्मरति, आत्मतृप्ति तथा आत्मसंतुष्टि प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। जीवन का लक्ष्य यही है। वास्तव में आनन्द बाहर नहीं, हृदय के अन्दर ही है। बाहर का सुख क्षणिक है। अन्दरूनी सुख शाश्वत है। अतः विज्ञ लोग अन्तर्मुखी होकर आत्मानन्द पाते हैं। ऐसे लोगों के बारे में इस श्लोक में कहा गया है। '**मानवः**' कहा गया। अतः स्पष्ट है कि हर मनुष्य को इसे प्राप्त करने की योग्यता है। जात पांत, वर्ग-वर्ण का भेदभूल कर उच्च स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न - कर्मयोग संबंधी कर्तव्य किन्हें नहीं होता ?

उत्तर - आत्माराम, आत्मतृप्त और आत्मसंतुष्ठ महानुभावों के लिए कर्तव्य लागू नहीं होता।

१८. नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

शब्दार्थ - तस्य = उसे। इह = इस लोक में। कृतेन = कर्म करने से। आर्थः = प्रयोजन। न एव = नहीं है। अकृतेन = कर्म न करने से। कश्चन = एक भी। दोषः = दोष। न = नहीं। अस्य = इसे। सर्वभूतेषु = चराचर सब प्राणियों में। अर्थव्यपाश्रयः = प्रयोजन के लिए आश्रय प्राप्त करने की। कश्चित् = कुछ भी। न = नहीं है।

भावार्थ - उस महापुरुषका इस विश्व में न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई दोष होता है। तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं रहता।

व्याख्या - स्पष्ट किया गया कि उपर्युक्त जीवन्मुक्त आत्मज्ञानी के लिए कर्म करने या न करने से कोई प्रयोजन नहीं होता। क्योंकि वह सदा आत्मा में तृप्त रहता है। कर्म करने या न करने से नयी प्रयोजन कुछ नहीं होता। ऐसे महानुभाव लोक हित के लिए कर्म करते ही रहते हैं।

यह भी बताया गया कि ऐसे आत्मनिष्ठ महापुरुषों को किसी भी प्रयोजन के लिए किसी भी व्यक्ति के आश्रय में जाने की जरूरत नहीं रहती। क्योंकि सभी प्रयोजनों को प्राप्त कराने में समर्थ आत्मा उसके वश में रहती है। **'शते पंचाशत्'** सौ में पचास निहित है, इस न्याय के अनुसार सभी सांसारिक प्रयोजन आत्म प्राप्ति के अंतर्निहित हैं। इसलिए उन्हें किसी के सामने हाथ फैलाने, किसी की सहायता मांगने की जरूरत नहीं होती।

ऐसी व्यवस्था केवल आत्मनिष्ठ जनों के लिए ही है। बाकी के लिए नहीं। बाकी सभी को निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए। नौकरी से अवकाश ग्रहण कर पेन्शन पाते हुए आराम से रहनेवालों को देखकर, विद्यार्थी या नौकरी करनेवाला अफसर अपना कर्म व कर्तव्य यदि छोड बैठे तो जिस तरह भ्रष्ट हो

जाएगा उसी तरह जीवन्मुक्त दशा की प्राप्ति के पहले जो अपने कर्तव्य का पालन छोड देता है वह पतन की ओर अग्रसर होता है। अतः साधकों को इस बारे में बहुत सतर्क रहना चाहिए। अपनी साधना में किसी तरह की कमी आने देना नहीं चाहिए।

सम्बन्ध - भगवान अर्जुन को फल की अपेक्षा न करते हुए कर्म करने का आदेश देते हैं।

१९. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

शब्दार्थ - तस्मात् = इसलिए। (त्वम् = तुम)। असक्तः = संगम (फल की अपेक्षा रहित) रहित (होकर)। सततम् = सदा। कार्यम् = करने का। कर्म = कर्म। समाचर = करो। असक्तः = संगम रहित। (होकर)। कर्म = कर्म। आचरन् = आचरण में लारहे। पूरुषः = पुरुष। परम = मोक्ष। आप्नोतिहि = पारहा है।

भावार्थ - इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह। क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या - 'तस्मात्' - आत्मज्ञानी को कर्तव्य का निर्वहण आवश्यक नहीं है। बाकी सब को कर्तव्य का पालन करना ही चाहिए। इसलिए (साधना की दशा में रहनेवाले) तुम्हें कर्म जरूर करना चाहिए। लेकिन (१) संग व आसक्ति छोड कर कर्म करो। (२) शास्त्र नियत काम ही करो। ये दोनों विशेषण हो तो कर्म दोष मुक्त रहेगा। मोक्ष का साधन बनेगा। भगवान अर्जुन को आदेश देते हैं कि निष्काम भावना से नियत कर्म करो। अगर कर्म बंधन हैं तो भगवान उन्हें करने का आदेश क्यों देगे ? कर्म के प्रति आसक्ति एवं कर्म फल की अपेक्षा त्याग दें तो वह कर्म मोक्षदायक होगा। नहीं तो बंधन बन कर सांसारिक व्यामोह में फंसा देगा। यही कर्म रहस्य है।

इस श्लोक में स्पष्ट किया गया कि बाकी योगों के साथ कर्मयोग भी मोक्षदायक है। अनासक्त कर्म योग से चित्त शुद्ध होता है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए अनुकूल वातावरण तैयार होता है। कहा जाता है "मोक्षो हि चेतो विमलम" अर्थात् चित्त की निर्मल स्थिति ही मोक्ष है। वह निष्काम कर्म के आचरण से अवश्य मिलता है। संसार में सामान्य जन ज्ञान और ध्यानयोग तक पहुंच नहीं सकते। पहुँचते भी हैं तो बहुत कम। कर्म और भक्ति योग तक पहुँचनेवाले लोग ज्यादा होते हैं। इसीलिए गीताचार्यने ज्ञान एवं ध्यान योग के साथ कर्म एवं भक्तियोग को भी प्रधानता दी। इन्हें काफी प्रोत्साहित किया।

प्रश्न - कर्म का निर्वहण कैसे करना चाहिए ?

उत्तर - (१) फल की अपेक्षा के बिना निष्काम भावसे कर्म करना चाहिए। (२) शास्त्र सम्मत कर्म करना चाहिए।

प्रश्न - ऐसा करने से कौन सा फल मिलेगा ?

उत्तर - ऐसा करने से मनुष्य परमपद (मोक्ष) प्राप्त करेगा।

सम्बन्ध - पूर्वश्लोक में भगवान्‌ने जो यह बात कही कि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करनेवाला मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है, उसी बातको पुष्ट करनेके लिये जनकादिका प्रमाण देकर पुनः अर्जुनके लिये कर्म करना उचित बतलाते हैं-

२०. कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥

शब्दार्थ - जनकादयः = जनक आदि। कर्मणैव = कर्मों से। संसिद्धम् = मोक्ष। आस्थिता हि = प्राप्त किया। त्वम् = तुम। लोक संग्रहम = लोगों को सन्मार्ग पर चलाने के प्रयोजन को। संपश्यन अपि = सोच कर ही सही। कर्तुमेव = कर्म करने के लिए। अर्हसि = योग्य हो।

भावार्थ - जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको

प्राप्त हुए थे। इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है।

व्याख्या - पिछले श्लोक में गीताचार्यने बताया कि निष्काम कर्म कर मनुष्य परमात्मा (मोक्ष) को पा सकता है। उसी सिद्धांत का समर्थन जनक आदि के उदारहण देकर गीताचार्य करते हैं। "**जनकादयः**" कहा गया। जनक, अश्वपति, इक्ष्वाकु, प्रह्लाद, अंबरीष और भगीरथ आदि इस श्रेणी में आते हैं। भगवान कहते हैं कि निष्काम कर्म करना नूतन विषय नहीं है। पुराने जमाने में कई राजाओंने निष्कामकर्म किये और मुक्ति धाम पहुंच गये। अर्जुन भी वैसे ही हैं। निष्काम कर्मयोग को अपना कर मोक्ष की प्राप्ति करनेवाले राजाओं के बारे में अर्जुन के पूछने के पहले ही श्रीकृष्णने जनकादि के नाम लिये। निष्काम भावना से कर्म करने से चित्त निर्मल बनता है। निर्मल चित्त में ज्ञान का आविर्भाव होता है। ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार निष्काम कर्म, मोक्ष प्राप्ति का साधन बनरहा है। योग वासिष्ठ में कहा गया कि जनकने फल की अपेक्षा किये बिना कई सत्कर्म किये। उनका चित्त जब शुद्ध हुआ तब उन्होंने आत्म विश्लेषण किया। स्वस्वरूप का साक्षात्कार किया। उस रूप से उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया। अतः अनासक्त होकर कर्म करने से मुक्ति मिल सकती है। इसमें संदेह ही नहीं है। भगवान बतलाते हैं कि लोक संग्रह के लिए अर्थात् लोगों को अपमार्ग से हटा कर सन्मार्ग पर लाने या चलाने के लिए कर्मयोग अत्यंत आवश्यक है। परोपकार को बडी प्रधानता दी गयी है। एक प्राणी का भी उपकार करना पुण्य का काम है। मोक्षदायक कर्मयोग का स्वयं पालन कर दूसरों को भी उसके लिए प्रोत्साहित कर भवबन्धनों से छूटना दूसरो को छुडाना महत्वपूर्ण कार्य है। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को बतलाते हैं कि तुम निष्काम कर्मयोग को आचरण में लाओ और दूसरों को भी सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करो।

प्रश्न - कर्मयोग से क्या पहले किसीने मोक्षप्राप्त किया ? अगर किया है तो वे कौन हैं ?

उत्तर - हाँ प्राप्त किया। जनक आदि महापुरुष उस श्रेणी के हैं।

प्रश्न - कर्मयोग के आचरण से संसार को होनेवाला प्रयोजन क्या है ?

उत्तर - इससे कई लोगों को अपमार्ग से हटा कर सन्मार्ग पर लाया जासकता है।

सम्बन्ध - भगवान् बतलाते हैं कि बडे लोग जो कुछ करते हैं छोटे लोग उन्हीं का अनुसरण करते हैं।-

२१. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

शब्दार्थ - श्रेष्ठ = श्रेष्ठ पुरुष। यत् यत् = जो जो कर्म। आचरति = करता है। इतरः जनः = बाकी लोग भी। तत् तत् एव = उन उन कर्मों को। (आचरति = करते हैं)। सः = वह। यत् = जिसे। प्रमाणम् = प्रमाण के रूप में। कुरुते = करता है। लोकः = लोक (लोग)। तत् = उसी का। अनुवर्तते = अनुसरण करते हैं।

भावार्थ - श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वेसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।

व्याख्या - '**बडों का अनुसरण छोटे करते हैं,**' यह संसार में प्रचलित सूक्ति है। इसलिए बडों को अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों को अपनी करनी के बारे में बहुत सतर्क रहना चाहिए। शास्त्र विरुद्ध कार्य उन्हें नहीं करना चाहिए। अर्जुनने अपने शौर्य, वीर्य, पराक्रम एवं अपनी सच्चरित्रता के बल पर संसार में बडी ख्याति प्राप्त की। वैसा महान् पुरुष, अकर्मण्य न बन कर अपने कर्तव्य का अपने धर्म का पालन फल की अपेक्षा किये बिना करे तो दूसरे लोग भी उनका अनुसरण करेंगे और निष्काम कर्मयोग के मार्ग पर चल कर अपना जीवन धन्य बनाएँगे। '**यथा राजा तथा प्रजा**' यह प्रचलित उक्ति है। यदि राजा ही अकर्मण्य बने तो दूसरे लोग भी उसी का अनुसरण कर कोई कर्म न करके निठल्ले बैठे रहेंगे और धीरे

धीरे कर्मभ्रष्ट हो जाएंगे। इसलिए लोक के हित को दृष्टि में रख कर बडों को सत्कर्म करना चाहिए।

बडे लोग जिसे प्रमाण के रूप में स्वीकार करेंगे छोटे लोग भी उसी को प्रमाण मान कर चलेंगे। बडे लोग जिस वाक्य का, जिस सिद्धांत का, जिस पद्धति का, जिस शास्त्र का आदर करेंगे अन्य लोग भी उसी का आदर करेंगे। उसीको प्रमाण के रूप में स्वीकार करेंगे। इससे शास्त्र सम्मत सिद्धांत तथा शास्त्र सम्मत कर्मक्रम का विस्तृत प्रचार होगा। उसका अनुसरण दूसरे लोग बडी संख्या में करेंगे। अतः भगवान यहाँ आदेश देते हैं कि श्रेष्ठ पुरुषों को पहले महोन्नत धर्मों एवं कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। ऐसा करना अत्यंत आवश्यक है।

'आचरति' इस शब्द के प्रयोग के द्वारा भगवान श्रीकृष्ण आचरण को अधिक प्रधानता देते हैं, वाक् को नहीं। साधकों को इस बात पर ध्यान देना चाहिए। आचरण एवं अनुष्ठान रहित बातों का कोई असर नहीं पडता। इसलिए भगवान का आदेश है कि पहले तुम कर के दिखाओ। तभी लोगों को शास्त्रों के विषयों पर विश्वास होगा।

सम्बन्ध - इस प्रकार श्रेष्ठ महापुरुषोंके आचरणोंको लोकसंग्रहके हेतु बतलाकर अब भगवान् तीन श्लोकोंमें अपना उदाहरण देकर वर्णाश्रमके अनुसार विहित कर्मोंके करनेकी अवश्यकर्तव्यता का प्रतिपादन करते हैं-

२२. *न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।*
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

शब्दार्थ - पार्थ = हे अर्जुन ! मे = मुझे। त्रिषु लोकेषु = तीनों लोकों में। कर्तव्यम् = करने लायक काम। किंचन = किंचत् भी। न अस्ति = नहीं है। अनवाप्तम् = जो पाया नहीं गया। अवाप्तव्यम् = जो पाने योग्य हो। न = नहीं है। च = तो भी। कर्मणि = कर्म में। वर्तएव = बरतता हूँ।

भावार्थ - हे अर्जुन ! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ।

व्याख्या - श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान हैं। इसलिए सब लोक उसकी कुक्षि में स्थित होते हैं। ऐसी हालत में लोकों में उनके करने लायक काम क्या रहेगा ? प्राप्त करने की चीज भी क्या रहेगी ? तब भी वे करुणामय हैं। भक्तों के संरक्षण के लिए अवतार लेते हैं। लोगों के हितार्थ कर्म करते हैं। वास्तव में वे निराकार हैं, फिर भी साकार रूप धारण कर लोगों से हिल मिल कर रहते हैं धर्म एवं तत्व रहस्य बता कर जनता को मुक्ति मार्ग दर्शाते हैं। स्वयं भगवान ही जब इस प्रकार करते हैं तो सामान्य जनों को भी ऐसे काम अवश्य करना चाहिए। कई जीवन्मुक्त पुरुष, तत्व की अनुभूति स्वयं पाकर भी भगवान का अनुसरण करते हुए लोक हित को दृष्टि में रख कर सत्कर्म करते हैं। ऐसी हालत में सामान्य जनों, साधकों और मुमुक्षुओं का कर्तव्य है कि वे अकर्मण्यता त्याग दें, आत्मोद्धार के लिए अनासक्त भावना से कर्म अवश्य करें। इससे उनका और संसार का बडा हित होगा।

२३. *यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।*
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

शब्दार्थ - पार्थ = हे अर्जुन ! हि = क्यों कि। अहम् = मैं। जातु = कभी भी। अतन्द्रितः = जागरूक होकर। कर्मणि = कर्म में। न वर्तेयं यदि = न बरतूँ तो। मनुष्याः = मनुष्य। सर्वशः = सब तरह से। मम = मेरा। वर्त्म = मार्ग का। अनुवर्तन्ते = अनुसरण कर बरतते हैं।

भावार्थ - हे पार्थ ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बडी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं।
व्याख्या - **'अतन्द्रितः'** - **'तन्द्रता'** माने अलसता है। अलसता मत्त होती है। वैसी अलसता रहित स्थिति ही अतन्द्रिता अर्थात् जागरूकता है। श्रीकृष्ण

भगवानने कहा कि यद्यपि मुझे कर्म करने की जरूरत नहीं है, फिर भी करता हूँ। क्यों कि अगर मैं काम न करूँ तो दूसरे भी मेरा अनुसरण कर काम किये बिना बैठ जाएंगे। वही विषय इस श्लोक में बताया गया है। यही वजह है कि संसार में महापुरुष, आदर्शपुरुष, धर्म प्रवर्तक अपने कर्माचरण के विषय में बहुत जागरूक रहते हैं। ऐसे कई उदाहरण हमें मिलते हैं।

'अतन्द्रितः' प्रयोग के द्वारा भगवान साधकों को चेतावनी देते हैं कि उन्हें अपने आचरण के बारे में सतर्क रहना चाहिए। स्वयं भगवान ही अपने आचरण के प्रति सचेत हैं तो स्पष्ट है कि सामान्य जनों को भी बहुत सचेत रहना चाहिए। साधना के मार्ग में 'तन्द्रता' खतरनाक है। असावधान रहें तो बडे से बडे मेधावी को भी माया गिरा देती है। इन्द्रिय बहुत बलवान हैं। इसलिए हर क्षण उनसे मुमुक्षु को बच कर रहना चाहिए। रात के समय रेलगाडी चलानेवाले ड्राइवर को जितना सतर्क एवं सचेत रहना चाहिए, मुमुक्षु को भी उतना ही सतर्क एवं सचेत रहना चाहिए। "**जातु**" के प्रयोग से स्पष्ट है कि भगवान अपने कर्माचरण के प्रति बहुत सतर्क रहते हैं। अतः हर व्यक्ति को आध्यात्मिक क्षेत्र में बहुत सतर्क रहना चाहिए। शास्त्र घोषित करते हैं कि '**प्रमादोवै मृत्युः**' अर्थात् प्रमत्तता और असावधानी मृत्यु के समान है। विवेक चूडामणि में शंकराचार्यने भी इस बारे में चेतावनी दी। अतः साधकों को चाहिए "**अतन्द्रितः**" शब्द का बार बार स्मरण करें, और सावधान होकर साधना के क्षेत्र में आगे बढें।

२४. उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

शब्दार्थ - अहम् = मैं। कर्म = कर्म। न कुर्यां चेत् = न करूँ तो। इमे लोकाः = ये लोग। उत्सीदेयुः = भ्रष्ट होते हैं। संकरस्य च = संकरता के। कर्ता = कर्ता। स्याम् = बनूँगा। इमाः प्रजाः = इन लोगों को। उपहन्याम् = बिगाडनेवाला बनूँगा।

भावार्थ - इसलिए यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायेंगे और मैं सङ्करता का करनेवाला होगा। तथा इस समस्त प्रजा को नष्ट करनेवाला बनूँगा।

व्याख्या - मैं कर्मों का अनुष्ठान न करूँ तो लोग भी नहीं करेंगे। तब समाज के सभी क्षेत्रों में संकरता आजाएगी। अशांति व्याप्त होगी। लोग अन्याय तथा अधर्म का आश्रय लेंगे।फलस्वरूप समाज में कई उत्पात और उपद्रव बढ जाएंगे। इस प्रकार जनता के विनाश का मैं जिम्मेवार बनूँगा। उन्हें सब तरह से बिगाडनेवाला बनूँगा। इसलिए लोगों के हित के लिए ही मैं कर्म करता हूँ। भगवान के इन वचनों से स्पष्ट है कि कर्मयोग का कितना बडा महत्व है। इस श्लोक से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि भगवान श्रीकृष्ण के हृदय में जीव कोटि के प्रति करुणा है। वे जनता का हित चाहते हैं। भगवान की ही तरह सब लोगों का यह कर्तव्य है कि वे उनके कदमों पर चलें, कर्म का त्याग न करें, लोक हित के लिए प्रयास करें।

सम्बन्ध - भगवान् उपर्युक्त लोकसंग्रहकी दृष्टिसे ज्ञानीको कर्म करनेके लिये प्रेरणा देते हैं-

२५. सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

शब्दार्थ - भारत = हे अर्जुन! अविद्वांसः = अज्ञानी। कर्मणि = कर्म में। सक्ताः = लग कर (आसक्त होकर)। यथा = जिस प्रकार। कुर्वन्ति = कररहे हैं। तथा = उसी प्रकार। विद्वान् = ज्ञानी। असक्तः = न लग कर (आसक्त न होकर)। लोक संग्रहम् = लोक हित को। चिकीर्षुः = पूरा करने की इच्छा से। (कर्माणि = कर्मों को) कुर्यात् = करना चाहिए।

भावार्थ - हे भारत! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करने चाहते हुए उसी प्रकार कर्म करे।

व्याख्या - अज्ञानी और ज्ञानी दोनों कर्म करते हैं। लेकिन अज्ञानी फल की अपेक्षा से काम करते हैं। पर ज्ञानी फल की अपेक्षा न कर कर्म करते हैं। अज्ञानी कर्म के प्रति आसक्त होकर कर्तृत्व की बुद्धि से कर्म करते हैं, परन्तु ज्ञानी कर्म के प्रति आसक्त न होकर कर्तृत्व रहित बुद्धि से कर्म करते हैं। अज्ञानी स्वार्थ के लिए कर्म करते हैं। पर ज्ञानी लोक हित के लिए कर्म करते हैं। कर्म करने में समानता है। पर पद्धति में अन्तर है। एक तो कर्म के प्रति आसक्त होते हैं, दूसरे आसक्त नहीं होते। पहलेवालों को कर्म, बंधन में बांधता है तो दूसरी तरह के लोगों को कर्म मुक्ति प्रदान करता है। लेटाक एक ही है। लेकिन उसके उपयोग में अन्तर है। अनजाने में उपयोग करें तो बुरा होता है, सचेत होकर उपयोग करें तो भला होता है। अग्नि एक ही है। मगर अनजाने में भस्म कर देती है। सचेत होकर उपयोग करें तो आग से रसोई बनती है। इसी तरह कर्म एक हथियार जैसा है। उसके प्रयोग का विवरण अनुभवी व्यक्तियों से अच्छी तरह जानना जरूरी है। तभी वह भव बंधन से मुक्ति दिलाने में सहायक बनता है। भगवान गीता में स्पष्ट रूप से बतलोते हैं कि कर्म रूपी हथियार का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए। वे सचेत करते हैं कि कर्म रूपी हथियार को कोने में मत डालो उसका प्रयोग करो। लेकिन पहचान कर उसका प्रयोग करो। प्रयोग करना भलीभांति सीखो। इसके बाद ही उसका प्रयोग करो। इस श्लोक में उसके प्रयोग का स्पष्टीकरण अच्छी तरह किया गया है। अनासक्त होकर कर्म करना ही उसका सही प्रयोग है। ''चिकीर्षु र्लोकि सङ्ग्रहम्'' के प्रयोग से ज्ञात होता है कि लोकहित का वे ख्याल करते हैं। लोक हित की साधना करना अत्यंत आवश्यक है। ज्ञानी लोगों का यह कर्तव्य है कि वे अनासक्त होकर कर्माचरण करें जिससे लोंक का कल्याण हो।

'भारत' कह कर श्रीकृष्ण कभी कभी अर्जुन को संबोधित कर उन्हें उत्साहित करते हैं। उसका अर्थ है भरतवंश में जन्म लेनेवाला। पर उसका और एक अर्थ भी है। (भा = प्रकाश। रतः = आसक्त)। प्रकाश के प्रति आसक्ति रखनेवाला।

भगवान बताते हैं कि हे अर्जुन ! उठो। अज्ञान के अंधकार को हटा कर ज्ञान की दीप्ति से प्रकाशवान बनो।

प्रश्न - विवेकी को कर्म किस तरह करना चाहिए ?

उत्तर - फल की आसक्ति से रहित होकर कर्म करना चाहिए।

प्रश्न - किसके लिए ?

उत्तर - लोक हित के लिए।

२६. *न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।*
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥

शब्दार्थ - विद्वान् = ज्ञानी। कर्म सङ्गिनाम् = कर्म में आसक्त। अज्ञानाम = अज्ञानियों को। बुद्धिभेदम् = बुद्धि में चलन। न जनयेत् = उत्पन्न नहीं करना चाहिए। सर्वकर्माणि = सब कर्मों को। युक्तः समाचरन् = योगयुक्त होकर चातुरी से करते हुए। जोषयेत् = कराना चाहिए।

भावार्थ - परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह शास्त्रविहित कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न करे किंतु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवावे।

व्याख्या - यहाँ कहा गया है कि कर्मों में आसक्त होकर फल की अपेक्षा लेकर कर्म करनेवालों की बुद्धि को ज्ञानी मौखिक शिक्षा के द्वारा चंचल न बनावें। अपने निर्मल आचरण के द्वारा उन्हें अपने मार्ग पर ले आवे। संसार में कुछ लोग निष्काम कर्म संबंधी तत्व की जानकारी के बिना कुछ न कुछ विश्वास एवं श्रद्धा के साथ फल की आसक्ति से कर्म करते रहते हैं। उनसे कहा जाय कि तुम जो कुछ कर रहे हो वह गलत है। ऐसा नहीं ऐसा करो तो जाननेवाले बहुत कम होते हैं। संभव है कि वे कर्म ही छोड बैठें। इससे दोनों ओर से भ्रष्ट होकर संभव है कि वे घोर तमस में गिर जायँ। इसलिए उनके व्यवहार में ज्यादा दखल न दें

और खुद आत्मस्थित होकर, इन्द्रियनिग्रही बन कर अनासक्त भाव से कर्म करते रहें तो उनका निर्मल अनुष्ठान देख कर, उसके फल के रूप में प्राप्य आत्मशान्ति को देख कर वे अपने चित्त को बदलने का प्रयास करेंगे। धीरे धीरे निष्काम कर्म करते हुए अपना मार्ग प्रशस्त करेंगे। यही इस श्लोक से स्पष्ट होता है कि मौखिक शिक्षा से क्रिया मूलक शिक्षा अर्थात् अनुष्ठान के द्वारा दी जानेवाली शिक्षा पटु और शक्तिशाली होती है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि मंचों पर खडे होकर दिये जानेवाले लंबे लंबे भाषणों की अपेक्षा आडंबर रहित एकांत में किया जानेवाला निष्काम अनुष्ठान ही शक्तिशाली एवं प्रभाव शाली है। आज के हेतुवादी समाज में मौखिक शिक्षा या उपदेशों से दूसरों को बदल सकते हैं। तभी लोगों के हृदय में तत्व संबंधी बातों पर विश्वास जमता है। "**युक्तः समाचरन्**" कहा गया। इससे समझना चाहिए कि खुद को योगयुक्त होकर आत्मा में स्थिर होना चाहिए। निष्काम बुद्धि से कर्म करना चाहिए। '**आचरन्**' न कह कर '**समाचरन्**' कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि पवित्र अनुष्ठान में लीन रहना चाहिए।

प्रश्न - अज्ञानियों को किस तरह शिक्षा देनी चाहिए ?

उत्तर - उत्तम शिक्षा मौखिक बातों के द्वारा नहीं, अपने निर्मल आचरण, अनासक्त कर्माचरण एवं निष्काम भावना से भरे अनुष्ठान के द्वारा देनी चाहिए।

सम्बन्ध - इस प्रकार दो श्लोकोंमें ज्ञानीके लिये लोकसंग्रहको लक्ष्यमें रखते हुए शास्त्रविहित कर्म करनेकी प्रेरणा करके अब दो श्लोकोंमें कर्मासक्त जनसमुदायकी अपेक्षा सांख्ययोगीकी विलक्षणता का प्रतिपादन करते हैं-

२७. प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

शब्दार्थ - प्रकृतेः = प्रकृति का। गुणैः = गुणों से। सर्वशः = तरह तरह से। क्रियमाणानि = किया जारहा। कर्माणि = कर्मों को। अहंकार विमूढात्मा =

अंहकार से विवेक शून्य मनवाला। अहं = मैं। कर्ता = करनेवाला। इति = यह। मन्यते = मानता है।

भावार्थ - वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं तो भी जिसका अन्तःकरण अहङ्कारसे मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी 'मैं कर्ताहूँ' ऐसा मानता है।

व्याख्या - प्रकृति से जन्मे सत्व रज एवं तमोगुण ही मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, सूक्ष्म पंचभूत, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, और शब्दादि विषय नामक चौबीस तत्व बन गये हैं। इसलिए यह दृश्य जगत् और शरीर मन बुद्धि आदि सब प्रकृति से जन्मे हैं। प्रकृति से जन्मे शरीर आदि के द्वारा ही सब कर्म चलरहे हैं, परन्तु साक्षी रूप से स्थित आत्मा के द्वारा नहीं। वास्तव में जीव आत्मस्वरूप है। आत्मा ही देह, इन्द्रिय एवं मन के साक्षी है। सच तो यह है कि जीव खुद कोई कर्म नहीं करता। प्रकृति ही सब कररही है। लेकिन देह आदि में आसक्त अज्ञानी समझता है कि मैंही कर्ता हूँ। देहादि के अंहभाव से उसका मन विवेक शून्य हो जाता है। आत्म तत्व से शून्य हो जाता है। इसीलिए वह कर्तृत्व का भार अपने ऊपर अनावश्यक डालता है। फल स्वरूप कई जन्मों तक दुःख भोगता है। ज्ञानी एवं अज्ञानी में यही अन्तर है। अज्ञानी उपाधि से हिल मिल कर कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व को अपने ऊपर आरोपित कर व्यथित होता है। परन्तु ज्ञानी उपाधि को अपने से अलग कर समझता है कि मैं आत्मा हूँ। उपाधि नहीं हूँ। अतः वह उसे साक्षी के रूप में देखते हुए कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व से छूट कर परमानंद पाता है। दुःख, दुःखराहित्य, दोनों कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व आदि पर निर्भर रहते हैं। इसी कारण अज्ञानी को अपार दु ख होता है और ज्ञानी को अनंत आनंद मिलता है। अतः विज्ञ व्यक्ति प्रकृति के कार्य को अपने ऊपर आरोपित नहीं करता। कर्तृत्व रहित होकर अपने सत्य स्वरूप आत्मा में ही स्थित रहता है। असल में ऐसा रहना चाहिए।

'**अहंकार विमूढात्मा**' के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि अहंकार कितना बडा हानिकारक है। अहंकार विवेक को मिटा देता है। मूढता को प्रश्रय देता है। इसलिए अहंकार को मिटाना अत्यंत आवश्यक है। अहं ब्रह्मास्मि की भावना हृदय में दृढ होनी चाहिए।

प्रश्न- संसार में सब कर्म किसके द्वारा किये जाते हैं ?

उत्तर - प्रकृति के द्वारा (प्रकृतिजन्य गुणों के द्वारा)

प्रश्न - अहंकारी मनुष्य क्या सोचता है ?

उत्तर - सोचता है कि मैं ही कर्ता हूँ।

प्रश्न - उसका फल क्या है ?

उत्तर - फल के रूप में वह कई जन्म पाता है। दुःख भोगता है। इसलिए अपने को कर्ता न मान कर दुःख रहित होना चाहिए। परमानन्द का अनुभव करना चाहिए।

२८. ***तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।***
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥

शब्दार्थ - महाबाहो = महाबाहुओंवाले है अर्जुन। गुण कर्म विभागयोः = गुण कर्मों के विभाजन से संबंधित। तत्ववित्तु = यदार्थ जाननेवाला। गुणाः = गुण। गुणेषु = गुणों में। वर्तन्ते = बरतरहे हैं। इति = यह। मत्वा = समझ कर। न सज्जते = आसक्त नहीं होता।

भावार्थ - हे महाबाहो ! गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता।

व्याख्या - संसार एवं शरीर में आत्मा-अनात्मा, दृक्-दृश्य; मिले हुए हैं। दोनों को अलग करना चाहिए। तात्विक उसे अलग कर सकता है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि "तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहे नुञ्जादि वेषीकां धैर्येण" जिस तरह

घास फूस से कुश को अलग करते हैं, चावल से कंकड अलग करते हैं, उसी तरह आत्मा एवं अनात्मा के संघात में अनात्मा को अलग कर देना चाहिए। तब ज्ञानी समझता है कि संसार एवं अपने शरीर में जो भी कार्य होरहे हैं वे उस अनात्मा के द्वारा, प्रकृति के द्वारा होरहे हैं। वह समझ लेता है कि वे गुण, तद्गुण संबंधी कार्यों में प्रवर्तित होरहे हैं। उनके साथ आत्मस्वरूप का अपना कोई संबंध नहीं है। तब वह उस प्रकृति के प्रति आसक्ति रहित हो जाता है। संसार में रहते हुए भी कमल के पत्र पर जल की बूंद के समान निर्लिप्त रहता है। '**न सज्जते**' स्पर्श नहीं करता। जड एवं स्वप्न तुल्य दृश्य जगत् के प्रति चैतन्यमय ज्ञानी आसक्ति नहीं रखता। दूध के मथने पर मक्खन निकलता है। मक्खन मठ्ठे में ही रखा रहता है। मगर जिस तरह मक्खन मठ्ठे में रह कर भी उससे मिल नहीं सकता उसी प्रकार तात्विक भी दृश्य जगत् में रहते हुए भी उससे अलग ही रहता है। इसलिए दृश्य जगत् संबंधी सुख दुःख उसका स्पर्श नहीं करते। दुःख का मूल कारण आसक्ति ही है। संगराहित्य ही मोक्ष है। इस प्रकार आत्मा अनात्मा का विश्लेषण जो नहीं करता वह संसार सागर में डूब जाता है। क्यों कि वह समझता कि यह शरीर मैं हूँ। इन्द्रिय मैं हूँ। मन मैं हूँ इसलिए उनके प्रति अभिमान बरतेगा। इन्द्रिय कृत कार्यों को अपने ही कार्य समझेगा। उन पर मोहित होगा। अतः अनात्म संबंधी देह एवं इन्द्रिय आदि का अभिमान त्याग कर आत्मा में स्थिर होना चाहिए। दुःख से मुक्ति पाने का यह एक ही उपाय है। सांसारिक चक्र से छूटने का यही रहस्य है।

प्रश्न - तात्विक पुरुष कर्म किस तरह करेगा ?

उत्तर - आत्मा एवं अनात्मा का विवेक उसमें रहता है। इसलिए वह निश्चय कर लेता है कि वे गुण उन कार्यों में यद्य पि प्रवर्तित हैं तथापि आत्मस्वरूप मैं कुछ नहीं कररहा हूँ। '' इससे वह उन कार्यों को संग रहित (आसक्ति रहित) होकर करेगा।

सम्बन्ध - इस प्रकार कर्मासक्त मनुष्योंकी और सांख्ययोगीकी स्थितिका भेद

बतलाकर अब आत्मतत्त्वको पूर्णतया समझानेवाले महापुरुषके लिये यह प्रेरणा की जाती है कि वह कर्मासक्त अज्ञानी मनुष्योंको विचलित न करे-

२९. प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥

शब्दार्थ - (ये = जो) प्रकृतेः = प्रकृति के। गुणसम्मूढाः = राजस आदि गुणों से सम्मोहित होकर। गुण कर्मसु = गुणों के कर्मों में। सज्जन्ते = आसक्त होरहे हैं। अकृत्स्नविदः = अल्पज्ञों को। मन्दान् = मंद मतिवाले। तान् = वैसे कर्म संगियों को। कृत्स्नवित् = आत्मज्ञ ज्ञानी। न विचालयेत = विचलित नहीं करना चाहिए।

भावार्थ - प्रकृतिके गुणोंसे अत्यन्त मोहित हुए मनुष्य गुणोंमें और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं, उन (पूर्णतया न समझनेवाले मन्दबुद्धि अज्ञानियों)को पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानी विचलित न करे।

व्याख्या - इस अध्याय के २६ वें श्लोक में जो बताया गया है वही भाव सचेत करने के लिए फिर से इस श्लोक में भी बताया गया है। आत्मज्ञ ज्ञानियों का कर्तव्य काफी महत्वपूर्ण है। जो कर्मों में आसक्त हैं, फलादि की आशा करते हैं, कर्तृत्व का भार अपने ऊपर लेते हैं, उन अज्ञानियों के मन को विचलित नहीं करना चाहिए। अपने निर्मल आचरण तथा अनुष्ठान के द्वारा उनको भी धीरे धीरे अपने मार्ग पर लाना चाहिए। अपने निष्काम आचरण के द्वारा उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए। आत्मनिष्ठ ज्ञानियों के सदाचरण को देखते देखते वे भी खुद बदल जाएंगे और उनका अनुसरण करते हुए वे भी सन्मार्गी बन जाएंगे। भगावनने गुण, कर्म एवं दृश्य पदार्थ के प्रति आसक्त लोगों को 'अकृत्स्नवित्'' अर्थात् अल्पज्ञ कहा। वे जितने भी बडे विद्वान क्यों न हों, सांसारिक विद्या संबंधी विषयों के पारखी क्यों न हों, प्रकृति तथा इन्द्रियों के वे दास बने हुए हैं। इसलिए ऐसे सब लोग अल्पज्ञ ही हैं। '**मन्दान्**' भी कहा गया है। अर्थात् ऐसे लोग बडों

की दृष्टि में तथा भगवान की दृष्टि में मंदबुद्धिवाले हैं। इसलिए गुणों का संग एवं प्रकृति की दासता त्याग कर सर्ववेत्ता (**कृत्स्नविद्**) बनना चाहिए , न कि मंदबुद्धिवाला (**अकृत्स्नविद्**) । आत्मा को जानना ही सर्वज्ञता है। उसे जाननेवाला ही कृत्स्नविद् है। समस्त ब्रह्मांड के मूल में जो ब्रह्म (आत्मा) तत्व है उसे जानने से सब कुछ समझ में आजाता है। इसीलिए महान् ऋषि, मुनि जैसे मनस्वियोंने पहले अपने हृदय का अनुशीलन किया। इन्द्रियों को वश में किया। प्रकृति को अधीन में कर लिया। आत्मानुभव प्राप्त किया। सर्वज्ञ (कृत्स्नविद्) बन गये। वही जन्म की सार्थकता का उत्तम मार्ग है और शांति और सुख की प्राप्ति का उपाय है।

प्रश्न - प्रकृति के गुणों के दास बने कर्म में आसक्त लोग किस प्रकार के हैं ?

उत्तर - वे अल्पज्ञ हैं। मंदबुद्धिवाले हैं।

प्रश्न - उनके साथ ज्ञानियों को किस तरह बरतना चाहिए ?

उत्तर - उनकी बुद्धि को विचलित किये बिना अपने उत्तम आचरण के द्वारा उन्हें सन्मार्ग पर लाना चाहिए।

सम्बन्ध - अर्जुन के प्रथम प्रश्न का भगवान उत्तर दे रहे हैं।

३०. मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥

शब्दार्थ - सर्वाणि कर्माणि = समस्त कर्मों को। मयि = मुझमें। आध्यात्म चेतसा = आध्यात्मिक चित्त से। सन्यस्य = समर्पित कर। निराशीः = आशा रहित। निर्ममः = ममता रहित। भूत्वा = होकर। विगतज्वरः = संताप रहित होकर। युध्यस्व = युद्ध करो।

भावार्थ - मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और सन्तापरहित होकर युद्ध कर।

व्याख्या - संसार में ज्यादातर लोगों का चित्त सांसारिक भावों तथा दृश्य

जगत् के विकारों से भरा रहता है। वहाँ परमात्मा के लिए जगह नहीं रहती। वह आध्यात्मिक चित्त नहीं है। वह सांसारिक चित्त है। भगवान श्रीकृष्ण का आदेश है कि "**अध्यात्म चेतसा**" - हर व्यक्ति को आध्यात्मिक चित्त का होना चाहिए। आत्मज्ञान तथा पारमार्थिक चिन्तन से चित्त को भरा रखना चाहिए। भक्ति भाव से समन्वित रहना चाहिए। वही आध्यात्मिक चित्त है। ऐसे पावन मन से सब कर्मों को भगवान के चरणों में समर्पित करना चाहिए। "**निराशी: निर्मम:**" - आशा एवं ममकार को दूर करना चाहिए। इस संसार में भगवान (आत्मा) को छोड और किसी चीज का चिन्तन नहीं करना चाहिए। आत्मा एक ही सत्य है। सारा दृश्या जगत् उसका प्रतिबिंब रूप है। कल्पित है। नश्वर है। ऐसे कल्पित एवं मिथ्या जगत् में विवेकी पुरुष किसी अन्य वस्तु की आशा कैसे कर सकेगा ? इसलिए आशा तथा ममकार को हृदय से निकाल बाहर कर देना चाहिए। समर्पित चित्त से अपने नियत का आचरण करना चाहिए। अर्जुन के बहाने भगवान श्रीकृष्णने समस्त जगत् को यह पावन सन्देश दिया। अर्जुन क्षत्रिय थे। इसलिए उनको आदेश दिया कि युद्धस्व अर्थात् युद्ध करो। बाकी लोगों को अपने नियत्त कर्मों का पालन ईश्वरार्पण की भावना से करना चाहिए। गृहस्थाश्रम के लोग भी इस पद्धति के अनुसार तर करते हैं।

"**विगतज्वर:**" - भगवानने कहा कि संतापरहित होकर युद्ध करो। ज्वर दो प्रकार के होते हैं। (१) बाह्यज्वर, (२) आभ्यंतरिक ज्वर, दोनों जीव को पीडा पहुँचाते हैं। पहला बाह्य ज्वर याने शारीरिक ज्वर दवाओं से दूर हो जाता है। आभ्यंतरिक ज्वर याने मानसिक ज्वर (भवरोग तथा सांसारिक ताप) को दूर कंरने के लिए भगवानने इस श्लोक में चार दवाओं का उल्लेख किया (१) आध्यात्मिक चित्त का होना (२) निर्मल चित्त से सब कर्म एवं उनके फलों को ईश्वर के चरणों में समर्पित करना (३) आशा का त्याग (४) ममकार का त्याग। ये चारों रामबाण जैसी दिव्य औषधियाँ हैं। इनका सेवन करने से मनुष्य '**विगतज्वरवाला**' बन जाएगा। '**गत**' न कह कर '**विगत**' कहा गया। इससे

स्पष्ट है कि ज्वर पूर्ण रूप से मिट जाएगा। अतः सभी जीवों को भगवान श्रीकृष्ण के बताये इन चार दवाओं का सेवन कर भवरोगों से मुक्त होना चाहिए।

प्रश्न - परम श्रेय का मार्ग क्या है ?

उत्तर - आध्यात्मिक चित्त से सब कर्म ईश्वर को अर्पित कर, आशा एवं ममकार रहित होकर संताप के बिना स्वकर्मों का आचरण करना ही श्रेय का मार्ग है।

सम्बन्ध - इस प्रकार अर्जुनको उनके कल्याणका निश्चित साधन बतलाते हुए भगवान् उन्हें युद्ध करनेकी आज्ञा देकर अब उसका अनुष्ठान करनेके फलका वर्णन करते हैं-

३१. ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तोमुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥

शब्दार्थ - ये मानवाः = जो मनुष्य। मे = मेरे। इदं मतम = इस मत को। श्रद्धासक्तः = श्रद्धालु। अनसूयन्तः = असूया रहित (होकर)। नित्यम् = सदा। अनुतिष्ठन्ति = अनुसरण करते हैं। ते अपि = वे भी। कर्मभिः = कर्मों से। मुच्यन्ते = छोडे जाते हैं।

भावार्थ - जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं।

व्याख्या - कहा गया कि निष्काम कर्म करने से मनुष्य कर्मबंध तोड सकता है। इससे स्पष्ट है कि कर्म ही कर्म को तोड सकता है। साधक कर्मयोग के द्वारा कर्म विमुक्त हो पाता है। अर्थात् अनासक्त कर्माचरण के द्वारा कर्मयोगी ज्ञानयोगियों की तरह कर्मबंध को तोड पाते हैं।

'नित्यम्' - कहने से स्पष्ट है कि यह क्रिया कभी कभी नहीं, सदा होनी चाहिए। इस क्रिया में दो सद्गुणों पर ध्यान देना चाहिए। (१) श्रद्धा (२) असूया का न होना। भगवानने कहा कि आध्यात्मिक क्षेत्र में श्रद्धा का महत्वपूर्ण स्थान है। उसे आचरण में लाना अत्यंत आवश्यक है। असूया से बढ कर खतरनाक

चीज कोई नहीं, अतः उसे हृदय से मिटाना जरूरी है। इन दोनों के सहारे कर्म क्षेत्र में कदम रखनेवाले साधक को सफलता मिलजाती है। 'मानवाः' कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि इस पद्धति का हर मनुष्य उपयोग कर सकता है। इसमें जात-पांत, कुल-धर्म तथा वर्ग-वर्ण का कोई भेद नहीं है। 'अपि' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि साधारण मनुष्य भी इस पद्धति से तर सकते हैं।

प्रश्न - कर्मों से कौन विमुक्त होते हैं ?

उत्तर - भगवान के बताये अनासक्त कर्मयोग पद्धति को जो श्रद्धा से, असूया द्वेष छोड कर उपयोग में लाएँगे वे कर्म के बंधन से मुक्त होंगे।

सम्बन्ध - भगवान के बताये मत का अनुष्ठान न करने से होनेवाली हानि के बारे में बताते हैं-

३२. *ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठंति मे मतम्।*
सर्वज्ञान विमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥

शब्दार्थ - येतु = जो। मे = मेरे। एतत् मतम् = इस मत से। अभ्यसूयन्तः = द्वेष करनेवाले बन। न अनुतिष्ठन्ति = अनुसरण नहीं करते। तान् = उनको। अचेतसः = बुद्धिहीन। सर्वज्ञान बिमूढान् = किसी तरह के ज्ञान से हीन। नष्टान् = बिगडे हुए। विद्धि = जानो।

भावार्थ - परन्तु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मत के अनुसार नहीं चलते उन मूर्खों को तू संपूर्ण ज्ञानों में मोहित और नष्ट हुए ही समझ।

व्याख्या - भगवान के द्वारा प्रदत्त इस अनासक्त कर्मयोग एवं दैवी मार्ग से द्वेष करनेवाले आसक्ति के साथ कर्म करते हुए दृश्य जगत् में ही रमते रहते हैं। वे लोग कर्म बंधन में फंस कर नष्ट हो जाते हैं। चाहे महान पंडित हो, धनी हो, अधिकारी हो अगर उनमें भक्ति, श्रद्धा एवं निष्काम कर्म करने की भावना न हो तो भगवान की दृष्टि में वह बडा मूर्ख ही सिद्ध होगा। बुद्धिमान होने पर भी बुद्धिहीन ही बनेगा। उनके भाग्य में 'पतन' शब्द लिखा रहेगा। इस प्रकार के

व्यवहार से तीन अनर्थ होंगे (१) सर्वज्ञान विमूढता (२) बुद्धि हीनता (३) विनाश।

प्रश्न - स्पष्ट करो कि भगवान के द्वारा प्रदत्त इस परमार्थ तत्व का अनुसरण न करनेवालों और उससे द्वेष करनेवालों की कैसी दुर्गति होगी ?

उत्तर - (१) बिल्कुल ज्ञान का अभाव (२) बुद्धि का भ्रष्ट होना (३) संसार रूपी कुएँ में गिर कर नष्ट होना।

सम्बन्ध - भगवान बतलाते हैं कि मनुष्य अपने नियत कर्मों का आचरण निष्काम भावना से न करे तो किस तरह की हानि होगी।

३३. सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

शब्दार्थ - ज्ञानवान अपि = ज्ञानी होने पर भी। स्वस्याः = अपने। प्रकृतेः = स्वभाव के। सदृशम् = अनुसार ही। चेष्टते = चेष्टा करता है। भूतानि = प्राणी। प्रकृतिम् = अपने स्वभाव के। यान्ति = अनुसार चलते हैं। (अतः) निग्रहः = निरोध। किं करिष्यति = क्या कर सकेगा ?

भावार्थ - सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभावके परवश हुए कर्म करते हैं। ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है। फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा।

व्याख्या - यहाँ **ज्ञानवानपि** का अर्थ है शास्त्रविद् एवं लौकिक विद्याओं से विलसित। अनुभवी पूर्ण ज्ञानी नहीं। चाहे जितना भी बडा पंडित क्यों न हो, जितना भी शास्त्रों का ज्ञानी क्यों न हो, वह अपनी प्रकृति एवं पूर्वजन्म संस्कारों के अनुसार ही बरतता है। ऐसी हालत में सामान्य जनों के बारे में क्या कहना ? यहाँ पूर्वजन्म के संस्कार के बारे में बतलाना ही मुख्य विषय है। दूसरे ही श्लोक में कहा गया कि **तयोर्नवशमागच्छेत्** अर्थात् इन्द्रियों के वश न होकर उनका निग्रह करना चाहिए। गीता शास्त्र के आरंभ से ही भगवान कहते रहे कि दृष्ट

संस्कारों को दूर करो। काम को भगा दो। क्रोध को दूर करो। इन्द्रियों को वश में करो। ऐसी हालत में कैसे कहेंगे कि निग्रह से प्रयोजन नहीं है। वास्तव में जन्म जन्मांतर की वासनाओं और उन संस्कारों की शक्ति का वर्णन करते हुए इस प्रकार कहा गया।

सम्बन्ध - इस प्रकार सबको प्रकृतिके अनुसार कर्म करने पड़ते हैं, तो फिर कर्मबन्धनसे छूटनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये ? इस जिज्ञासापर कहते हैं-

३४. इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

शब्दार्थ - इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य = हर इन्द्रिय के। अर्थे = विषय में। राग द्वेषा = राग द्वेष। व्यवस्थितौ = व्यवस्थित हैं। तयोः = उन राग द्वेषों की। वशम् = अधीनता। न आगच्छेत् = नहीं पानी चाहिए। तौ = वे रागद्वेष। अस्य = इनके। परिपन्थिनौ हि = शत्रु हैं।

भावार्थ - इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये, क्योंकि बे दोनों ही इसके कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं।

व्याख्या - मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार बरताव करता है। यह स्वाभाविक है। परन्तु यह परम सत्य है कि पुरुष, प्रयत्न के बल से ही प्रकृति को जीत सकता है। इन्द्रिय शब्द राग द्वेष से युक्त है। वे मुमुक्षु के परम शत्रु हैं। वे अनेक जन्मों से जीव के हृदय क्षेत्र को अपने वश में कर हुकूमत चलारहे हैं। जीव सद्गुरु के उपदेश से उन शत्रुओं को दूर भगा कर आत्मा पर आधिपत्य जमाता है। आत्म विश्लेषण, भक्ति, वैराग्य तथा निष्काम कर्म का आचरण आदि के द्वारा कर्म को साधना है। तब तक जीव को शांति नहीं मिलती। क्यों कि शत्रु गाँव में, घर में, हृदय में ही रहें तो बताने की जरूरत नहीं कि वह कितना खतरा

पहुँचा सकता है। अतः राग द्वेष आदि शत्रुओं को पुरुष प्रयत्न से पराजित करना चाहिए। पूर्व जन्म के दुष्ट संस्कार एवं इस जन्म के पारमार्थिक प्रयत्न दोनों में तुमुल युद्ध चलता है। उसमें जो बलवान है वही जीतेगा। इसलिए जीव को चाहिए कि राग द्वेष के आगे सिर न झुकावे और उन्हें हृदय से निकाल बाहर कर दे। पूर्व जन्म के संस्कारों को बली मान कर शोक करने की जरूरत नहीं। पुरुष प्रयत्न से उन्हें हरा कर उन पर विजयी होना है। भगवान श्रीकृष्णने गीता में यही संदेश दिया कि हे प्राणियो ! दुष्ट संस्कारों के वश में मत हो। प्रयत्न करके उन्हें भगा दो। आत्म साम्राज्य को हथियाओ। भगवान के इस आदेश के अनुसार साधक को अपने अंतःशत्रु राग द्वेष को हरा कर परम शान्ति प्राप्त करनी चाहिए।

प्रश्न - इन्द्रियों का स्वभाव क्या है ?

उत्तर - विषयों के प्रति राग द्वेष रखना।

प्रश्न - मोक्ष की इच्छा करनेवाले को क्या करना चाहिए ?

उत्तर - राग द्वेष के वश न होकर पुरुष प्रयत्न से उन्हें जीतना चाहिए। वे मनुष्य के प्रबल शत्रु हैं।

सम्बन्ध - यहाँ अर्जुन के मन में यह बात आ सकती है कि मैं यह युद्धरूप घोर कर्म न करके यदि भिक्षावृत्तिसे अपना निर्वाह करता हुआ शन्तिमय कर्मोंमें लगा रहूँ तो सहज ही राग-द्वेषसे छूट सकता हूँ, फिर आप मुझे युद्ध करनेके लिये आज्ञा क्यों दे रहे हैं ? इसपर भगवान् कहते हैं-

३५. श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

शब्दार्थ - स्वनुष्ठितात् = अच्छी तरह आचरित। पर धर्मात् = दूसरों के धर्म से। विगुणः = गुण हीन होने पर भी। स्वधर्मः = अपना ही धर्म। श्रेयान् = श्रेष्ठ है। स्वधर्मे = अपने धर्म में। निधनम् = मरण भी। श्रेयः = श्रेयस्कर है। परधर्मः = पर धर्म। भयावहः = भयास्पद। (है)

भावार्थ - अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।

व्याख्या - अर्जुन क्षत्रिय थे। इसलिए युद्ध करना उनका धर्म था। उसे त्याग कर दूसरों का धर्म स्वीकार करना ठीक नहीं था। स्वधर्मरूप युद्ध में मर जाने में उनका श्रेय था। परधर्म स्वीकारना भयानक था।

इस श्लोक का और एक अर्थ भी बताया जा सकता है। स्वधर्मः = आत्म संबंधी धर्म, आत्म प्राप्ति के लिए आवश्यक साधन। परधर्मः = दृश्य संबंधी धर्म, शब्द आदि विषय संबंधी सुख। आत्म प्राप्ति के लिए अपनायेजानेवाले साधन एवं व्रत आदि कष्टदायक हैं। फिर भी उन्हें नहीं छोडना चाहिए। इसी प्रकार सुगमता से मिलनेवाले विषय संबंधी सुखों को स्वीकारना नहीं चाहिए। क्यों कि वे जीव को नरक कूप में ढकेल देते हैं। इसलिए वे अत्यंत भयांनक हैं। अतः मुमुक्षु को उन्हें दूर भगाकर हमेशा सदाचारों, व्रत निष्ठाओं में लीन रहना चाहिए। माया जीव को धोखादेती है। इससे जीव को सावधान रहना चाहिए। स्वधर्माचरण तथा व्रत के अनुष्ठान में जीव को मरण का वरण करना पडे तो भी संकोच नहीं करना चाहिए। अचंचल निष्ठा, धैर्य तथा हठ से आत्मा की साधना में साधक लगा रहे तो अचिरकाल में ही परमानन्द स्वरूप लक्ष्य तक वह पहुँच सकता है। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण इस श्लोक में बतलाते हैं कि स्वात्म धर्म को छोडना नहीं चाहिए और दृश्य धर्म को स्वीकारना नहीं चाहिए। साधना के समय मुमुक्षु को भगवान के इन वचनों का बार बार स्मरण करते रहना चाहिए।

प्रश्न - स्वधर्म एवं परधर्म दोनों में श्रेष्ठ कौन सा है ? और क्यों ?

उत्तर - कष्टदायक होने पर भी स्वधर्म ही श्रेष्ठ है। सुखी लगे तो भी पर धर्म भयानक है। स्वधर्म उन्नति का सूचक है। स्वधर्म पालन में मरण का वरण करना पडे तो भी जीव के लिए वह अत्यंत श्रेयोदायक है।

सम्बन्ध - मनुष्यका स्वधर्म पालन करनेमें ही कल्याण है, परधर्मका सेवन और निषिद्धकर्मोंका आचरण करनेमें सब प्रकारसे हानि है। इस बातको भलीभाँति समझ लेनेके बाद भी मनुष्य अपने इच्छा, विचार और धर्मके विरुद्ध पापाचारमें किस कारण प्रवृत्त हो जाते हैं-इस बातको जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं-

३६. *अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।*
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।।

शब्दार्थ - अर्जुन उवाच = अर्जुन बोले। वार्ष्णेय = हे कृष्ण। अथ = तो। अयं पूरुषः = यह पुरुष। केन = जिससे। प्रयुक्तः = प्रेरेपित होते हुए। अनिच्छन् अपि = न चाहने पर भी। बक्तात् = जबर्दस्ती। नियोजित इव = नियोजित जैसे। पापम् = पाप। चरति = आचरित कररहा है।

भावार्थ - अर्जुन बोले-हे कृष्ण ! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित पापका आचरण करता है ?

व्याख्या - भगवान श्रीकृष्ण इन्द्रिय निग्रह, रागद्वेष विसर्जन तथा स्वधर्म आदि के बारे में समझाते रहे। अर्जुन को सन्देह हुआ। यह सभी मुमुक्षुओं के दिल में पैदा होनेवाला सन्देह है। अतः यहाँ के प्रश्न एवं उत्तर दोनों, साधकों के लिए अत्यंत आवश्यक हैं।

कौन नहीं जानता कि विषयानुभव खतरनाक है। कौन नहीं जानता कि झूठ बोलना पाप है। कौन नहीं जानता कि क्रोध बहुत बुरा है। फिर भी लोग पाप करते हैं। मनुष्य चाहता है कि फलानी चीज नहीं खानी चाहिए, परन्तु कोई अदृश्य शक्ति वह चीज खाने को मजबूर करती है। अर्जुन का प्रश्न है कि वह शक्ति क्या है ? मनुष्य पाप करना नहीं चाहता, परन्तु पाप करने पर मजबूर होता है। इससे स्पष्ट है कि वह अदृश्य शक्ति कितनी बली है। "**बलादिव नियोजितः**" कहा गया। इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार राजा की आज्ञा से भट

हुकुम बजाता है, उसी प्रकार मनुष्य न चाहते हुए भी किसी अदृश्य शक्ति के कारण काम कररहा है। दयार्द्र भगवान बतलाते हैं कि वह शक्ति क्या है ? उसे दूर करने का उपाय क्या है ?

संसार में तीन प्रकार के जीव रहते हैं। (१) कभी पाप न करनेवाले (२) न चाहते हुए भी किसी शक्ति के कारण पाप कर्म करनेवाले (३) जान बूझ कर पाप करनेवाले। इनमें प्रथम वर्ग के लोग उत्तम हैं। जीवन्मुक्त हैं। माया पर विजय पानेवाले हैं। इनके ऊपर प्रकृति आक्रमण करना चाहे तो भी उसे सफलता नहीं मिलती। दूसरे वर्ग के लोग मुमुक्षु और साधक हैं। इनके बारे में ही अर्जुनने प्रश्न पूछा। तीसरे वर्ग के लोग निकृष्ट हैं। आसुरी प्रवृत्तिवाले हैं। बडे अज्ञानी हैं। मनुष्य को प्रथम वर्ग में पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए भगवान श्रीकृष्ण का उत्तर बहुत उपयोगी है। साधकों को चाहिए कि वे भगवान के उत्तर का मनन करें, चिन्तन करे, पापरहित होने का प्रयास करें।

सम्बन्ध - इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् श्रीकृष्ण कहने लगे-

३७. काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

शब्दार्थ - भगवान उवाच = भगवान बोले। एषः = यह हेतु। रजोगुण समुद्भवः = रजोगुण से उत्पन्न। कामः = काम। एषः = यही है। क्रोधः = क्रोध। महाशनः = अतृप्त। महापाप्मा = महा पापों का कारणभूत। (है)। एनम् = इस काम को। इह = इस मोक्ष के मार्ग में। वैरिणम् = शत्रु सा। विद्ध = जानो।

भावार्थ - श्रीभगवान् बोले- रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान।

व्याख्या - भगवान बतलाते हैं कि न चाहने पर भी मनुष्य से पाप कर्म करानेवाला 'काम' भाव है। यह रजोगुण से उत्पन्न हुआ है। उसका भाई क्रोध है। ये काम

और क्रोध दोनों मिले रहते हैं। गीता में भी ये दोनों कई बार साथ ही आते हैं। इसके पहले जिन राग द्वेष के बारे में कहा गया उन्हीं के प्रतिरूप हैं ये काम और क्रोध। काम से ही क्रोध उत्पन्न होता है। इसलिए जान लेना चाहिए कि इन दोनों में काम ही प्रधान है। मनुष्य के प्रबल शत्रुओं में काम ही मुख्य है, अतः उसीको अरिषड् वर्ग में प्रथम स्थान दिया गया है। आसुरी गुणों का नायक है काम। उपनायक है क्रोध। मोक्ष मार्ग पर चलनेवाले साधकों के लिए बहुत बडा रोडा है काम। इसलिए इसके स्वरूप और स्वभाव का विवरण भगवानने यहाँ दिया। भगवानने कहा कि यह बडा पेट है (महाशनः)। अग्नि में जितनी भी आहुति डालें, जैसे वह तृप्त नहीं होती उसी प्रकार भोगों से 'काम' तृप्त नहीं होता। कामभावना तीव्र होती जाती है। एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता, जहाँ कामने तृप्ति का भाव प्रकट किया हो। इसलिए उसे शांत करने के लिए तात्त्विक विचार के द्वारा इच्छाओं और कामनाओं को हृदय से निकाल देना आवश्यक है। काम को महापाप्मा कहा गया, इससे काम के घातुक रूप का परिचय मिलता है। काम को शत्रु कहा गया। जीव के अतिसमीप रहनेवाला यह काम ही है। कई जन्मों से यह जीव को सतारहा है। क्रोध आदि अपने दल बल के साथ यह काम जीव के हृदय पर आक्रमण कर उसे अपने वश में करलेता है। जहाँ शत्रु रूपी काम रहे वहाँ शांति को स्थान नहीं मिलता। अतः इस काम रूपी शत्रु को हृदय से निकाल कर दूर फेंक देना चाहिए।

ऊपरी उपचार से रोग दूर नहीं होता। उसे जड से उखाड फेंकना जरूरी है। भगवान इसीका मार्ग बतारहे हैं। सांसारिक दुःखों का मूलकारण है काम। उसे जड सहित उखाड फेंकना हर साधक का कर्तव्य है।

प्रश्न - किसशक्ति के प्रभाव से जीव अनचाहा कर्म कररहा है ?

उत्तर - काम प्रवृत्ति की प्रेरणा से।

प्रश्न - वह 'काम' कैसा है ?

उत्तर - (१) जितना भी भोग करें तृप्त नहीं होता (२) महापाप की जड है (३) जीव का प्रबल शत्रु है।

सम्बन्ध - पूर्व श्लोक में समस्त अनर्थों का मूल और इस मनुष्य को बिना इच्छा के पापों में लगाने वाला वैरी काम को बतलाया। इस पर यह जिज्ञासा होती हैकि यह काम मनुष्यको किस प्रकार पापों में प्रवृत्त करता है ? अतः अब तीन श्लोकों द्वारा यह समझाते हैं कि यह मनुष्य के ज्ञान को आच्छादित करके उसे अन्धा बनाकर पापों के गड्ढे में ढकेल देता है -

३८. *धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।*
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥

शब्दार्थ - यथा = जिस पुकार। धूमेन = धुएँ से। अग्निः = आग। आव्रियते = ढका है। (यथा = जिस प्रकार) आदर्शः च = दर्पण। मलेन = मैल से। (आव्रियते = ढका है।) यथा = जिस प्रकार। उल्बेन = जेर से। गर्भः = गर्भस्थशिशु। आवृतः = ढका रहता है। तथा = उसी प्रकार। तेन = उस काम से। इदम् = यह आत्मज्ञान। आवृतम् = ढका हुआ है।

भावार्थ - जिस प्रकार धुएँसे अग्नि और मैलसे दर्पण ढका जाता है तथा जिस प्रकार जेरसे गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस कामके द्वारा यह ज्ञान ढका रहता है।

व्याख्या - हर प्राणी के हृदय में आत्मा है। वह काम आदि गुणों से आवृत है। इसलिए उसका उज्वल स्वरूप धूमिल रहता है। इस बात के स्पष्टीकरण के लिए भगवानने तीन दृष्टांतों का उल्लेख किया। उन्होंने कहा कि धुएँ से ढकी अग्नि की तरह काम आत्मा को ढक चुका है। जिस प्रकार धुएँ के हटने से अग्नि तेज होती है, मैल के हटने से दर्पण निर्मल होता है, जेर के हटने से गर्भस्थशिशु बाहर निकलता है उसी प्रकार भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य नामक साधनों के द्वारा क़ाम आदि दुर्गुणों को हृदय से निकाल बाहर करना चाहिए। तब आत्मा का उज्वल रूप प्रकट होता है। वही मोक्ष की स्थिति है।

जब अग्नि धुएँ से ढकी रहती है, मैल से दर्पण ढका रहता है, जेर से गर्भस्थशिशु ढका रहता है तब अग्नि, दर्पण एवं शिशु की हानि नहीं होती। वे

स्वयं निर्मल ही रहते हैं। इसी प्रकार जब आत्मा काम और क्रोध आदि दुर्गुणों से ढका रहता है तब उसका उज्वल स्वरूप लुप्त नहीं होता। आवरण जब हट जाता है,तब आत्मा का उज्वल रूप प्रकट होता हैं। इससे स्पष्ट है कि काम क्रोध रूपी आवरण को हटाने का प्रयत्न हर साधक को करना चाहिए। इसी सत्य को भगवानने इस श्लोक में प्रकट किया।

उपर्युक्त दृष्टांतों के सिलसिले में असाध्य बात कुछ नहीं है। धुएँ को आसानी से हटा सकते हैं। मैल को मिटा सकते हैं। जेर का आवरण भी हट जाता है। आत्मा की भी यही स्थिति है। आलस्य को त्याग कर प्रयत्न करे तो जीव अवश्य सफलता पासकता है।

पिछले श्लोक में काम का उल्लेख हुआ। इस श्लोक के 'तेन' शब्द का अर्थ है उस काम से। (अगले श्लोक में बताया गया कि "उस काम से ज्ञान ढका हुआ है। इसलिए इदम् शब्द का अर्थ 'ज्ञान' लेना चाहिए।)

प्रश्न - आत्मज्ञान किससे ढका हुआ है ?

उत्तर - काम आदि से।

प्रश्न - किस प्रकार ?

उत्तर - (१) जिस प्रकार धुएँ से अग्नि आवृत है (२) जिस प्रकार मैल से दर्पण ढका हुआ है (३) जिस प्रकार जेर से गर्भस्थशिशु ढका रहता है उसी प्रकार काम क्रोध आदि दुर्गुणों से आत्मज्ञान ढका रहता है।

सम्बन्ध - भगवान काम की समानता आग से बता कर कहते हैं -

३९. आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥

शब्दार्थ - कौन्तेय = हे अर्जुन। दुष्पूरेण = न पूर्ण होनेवाले। अनलेन च = अग्नि की तरह अतृप्त। कामरूपेण = कामरूपी। ज्ञानिनः = ज्ञानी को। नित्य वैरिणा = निरंतर शत्रु। एतेव = इस काम से। ज्ञानम् = ज्ञान। आवृतम् = ढका हुआ है।

भावार्थ - हे अर्जुन ! इस अग्नि के समान कभी न पूर्ण होनेवाले कामरूप, ज्ञानियों के नित्य वैरी के द्वारा मनुष्य का ज्ञान ढका हुआ है।

व्याख्या - पिछले श्लोक में काम का थोडा सा वर्णन किया गया। यहाँ उसके बारे में और भी बताया गया है। भगवान की राय है कि साधक को काम के बारे में अवश्य मालूम होना चाहिए। क्यों कि शत्रु का बल अच्छी तरह जाननेवाला ही उसे हरा सकता है। यहाँ काम की दो विशेषताओं का उल्लेख किया गया। (१) नित्य शत्रु (२) प्रचंड अग्नि। अब इनके बारे में जान लें।

'नित्य वैरिणा' - मोक्ष की प्राप्ति तक, काम जीव को दुःख देता रहता है। इसे नित्य शत्रु कहा गया। संसार में शत्रु होते हैं। पर धीरे धीरे शत्रु मित्र भी होते हैं। परन्तु काम ऐसा नहीं है। वह जीव का नित्य शत्रु है। वह बडे बडों को पतन के गर्त में गिरा देता है। आध्यात्मिकसाधना में आगे बढनेवाले महानुभावों को भी काम गिरा देता है। बडे से बडा साधक भी काम के शिकार होकर गिर जाता है। साधक को चाहिए कि वह काम को अपने हृदय से समूल उखाड कर फेंक दे।

काम अग्नि एवं समुद्र की तरह कभी पूर्ण रूप से नहीं भरती। जितनी भी समिधाएँ क्यों न डालें अग्नि कभी तृप्त नहीं होती। काम 'महाशन' कहा गया। काम कभी तृप्त नहीं होता। आग में घी डालते जाये तो वह और धधकती है। इसी तरह काम भी सदा बढता ही रहता है। भागवत में ययाति ने अपने अनुभव के आधार पर कहा कि काम सदा बढता रहता है। अग्नि में घी की तरह वह धधकता ही रहता है। " समिधाएँ हटा दें तो अग्नि बुझ जाती है। इसी प्रकार इच्छाओं और भोग संबंधी कामनाओं को हृदय से निकाल दें तो काम शान्त होगा काम को मिटाने का यही एक उपाय है। संस्कृत में अलम् का अर्थ है 'बस'। अनलम् का अर्थ है बस नहीं। जितनी भी आहुति डालें पर अग्नि कभी भी 'बस' नहीं कहती। इसीलिए उसे अनल कहते हैं। भगवानने काम को अग्नि कहा। क्यों कि आग छूनेवाले को जला देती है। काम भी अग्नि की तरह मनुष्य को जला देता है। काम सब जीवों का अनर्थ करता है। ज्ञानी ही इसे

जानता है। वह दूर करने का प्रयास करता है। मगर अज्ञानी उसे अपना आप्त मित्र समझता है और नष्ट होता है। इसीलिए काम मनुष्य का नित्यशत्रु कहा गया। जब तक काम रूपी नित्य शत्रु समीप रहेगा तब तक मनुष्य मोक्ष पा नहीं सकता। श्रीकृष्ण गीता में बतलाते हैं कि इस काम पिशाच को भगा दो। परमानन्द प्राप्त करो।

प्रश्न - आत्मज्ञान किससे ढक दिया गया ?

उत्तर - काम से।

प्रश्न - वह कैसा है ?

उत्तर - (१) ज्ञानी का वह नित्य शतृ है। (२) अग्नि की तरह जला देता है।

सम्बन्ध - भगवान उस काम के आश्रय स्थलों का उल्लेख करते हैं -

> ४०. ***इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।***
> ***एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥***

शब्दार्थ - इन्द्रियाणि = इन्द्रिय। मनः = मन। बुद्धिः = बुद्धि। अस्य = इसे। अधिष्ठानम् = आश्रय देनेवाला। उच्यते = कहा जाता है। एषः = यह। एतैः = इन से। ज्ञानम् = ज्ञान। आवृत्य = ढक कर। देहिनम् = मनुष्य को। विमोहयति = मोहित करता है।

भावार्थ - इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि-ये सब इसके वासस्थान कहे जाते हैं। यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञानको आच्छादित करके जीवात्माको मोहित करता है।

व्याख्या - अब तक काम के स्वरूप स्वभाव का वर्णन करके, उसे दूर करने के उपाय बताने के पहले भगवान उसके आश्रय स्थलों का उल्लेख करते हैं। क्यों कि शत्रु को जीतने के लिए उसके निवासस्थल का पता लगाना आवश्यक है। काम के निवास स्थल हैं मनुष्य के इन्द्रिय, मन और बुद्धि। इनके द्वारा काम आत्मज्ञान को ढक कर जीव को मोह में फंसा देता है। 'मोहयति' न कह कर

'विमोहयति' कहा गया है। ऐसा कहने से स्पष्ट है कि काम जीव को कितना दुःख देता है। वह जीव के इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि में प्रवेश कर अंत में उसे गिरा देता है। काम को जीतना हो तो पहले इन्द्रियों को जीतना चाहिए। यह बात अगले श्लोक में भगवानने स्पष्ट कह दिया। इन्द्रियों को विषय वासनाओं के प्रति आसक्त होने से रोक सकें तो काम के लिए जगह ही नहीं रहेगी। वह अपने आप नष्ट हो जाएगा। यही काम पर विजय पाने के लिए अच्छा उपाय है।

प्रश्न - काम के आश्रय स्थल कौन से हैं ?

उत्तर - इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि इन्हें अपने काबू में करके काम जीव को अज्ञान के कूप में ढकेल देता है।

सम्बन्ध - इस प्रकार कामरूप वैरीके अत्याचारका और वह जहाँ छिपा रहकर अत्याचार करता है, उन वासस्थानोंका परिचय कराकर, अब भगवान् उस कामरूप वैरीको मारनेकी युक्ति बतलाते हुए उसे मार डालनेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं -

४१. तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥

शब्दार्थ - भरतर्षभ = भरतवंश के श्रेष्ठ हे अर्जुन। तस्मात् = इससे। त्वम् = तुम। आदौ = पहले। इन्द्रियाणि = इन्द्रियों को। नियम्य = निग्रहित कर। ज्ञान विज्ञान नाशनम् = ज्ञान विज्ञान का नाश करनेवाला। पाप्मानम् = पाप स्वरूप। एनम् = इसे। हि = जरूर। प्रजहि = पूर्ण रूप से छोड दो।

भावार्थ - इसलिये हे अर्जुन ! तू पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले महान् पापी कामको अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल।

व्याख्या - काम को जीतने के लिए पहले उसके निवासस्थलों को काबू में कर लेना चाहिए। ऊपर बताया गया कि काम के निवास स्थल इन्द्रिय, मन और बुद्धि हैं। काम पहले इन्द्रियों को वश में कर लेता है। फिर मन और बुद्धि को वश में कर लेता है। इसलिए साधक को पहले इन्द्रियों को वश में कर लेना

चाहिए ताकि काम की तेज गति में बाधा पडे। यही वजह है कि भगवानने इन्द्रियों को पहले वश में कर लेने का आदेश दिया। 'आदौ' कहने से स्पष्ट है कि सब से पहले इन्द्रियों को वश में कर लेने पर ध्यान देना चाहिए। साधक का पहला कार्य यही है। भगवान अर्जुन को सचेत करते हैं कि हे अर्जुन ! सब से पहले तुमको इसी काम पर ध्यान देना चाहिए। मुमुक्षुओं को भगवान के इस आदेश पर ध्यान देकर अपने इन्द्रियों को वश में करने का बीडा उठाना चाहिए।

'पाप्मानम्' - कह कर काम की तुच्छुता को भगवानने दर्शाया। पहले महापाप्मा कहा। अब पाप्मानम् कहा। क्यों कि उसमें से और कई पाप निकलरहे हैं। सब जानते हैं कि कामांध संसार में कितने भयंकर कृत्य करते हैं। काम मनुष्य के ज्ञान विज्ञान को नष्ट कररहा है। ज्ञान का मतलब है शास्त्र ज्ञान। विज्ञान का मतलब है अनुभवज्ञान। साधना के क्रम में बडी मुश्किल से प्राप्त ये दोनों काम के प्रभाव से मिट्टी में मिलरहे हैं। इस बारे में बडे बडे विद्वान, ज्ञानी और पारखी भी काम के वश होकर पामर बनते हैं। याद रखने की बात यह है कि पूर्णज्ञानियों तथा इन्द्रिय निग्रहियों का काम-भाव कुछ नहीं बिगाड सकता। अभ्यास, विवेक एवं वैराग्य को अपना कर अपने हृदय से काम प्रवृत्ति को निकाल फेंकना चाहिए। 'प्रजहि' शब्द का प्रयोग करके भगवान आदेश देते हैं कि काम को पूर्ण रूप से त्याग दो। उसको पूर्ण रूप से नष्ट कर दो। (यहाँ काम का मतलब है दृश्य विषयक सभी कामनाएँ एवं इच्छाएँ)।

'भरतर्षभ' - के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि अर्जुन से कहा गया कि हे अर्जुन ! भरतकुल का श्रेष्ठ बन कर भौतिक बल से संपन्न बने हो। इसी तरह इन्द्रियों को भी जीत कर आध्यात्मिक बल से संपन्न होकर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करो।

प्रश्न - परमार्थ के क्षेत्र में साधक को पहले पहल क्या करना चाहिए ?

उत्तर - इन्द्रियों को वश में करना चाहिए।

प्रश्न - इससे लाभ क्या है ?

उत्तर - काम भाव मिट जाता है।

प्रश्न - वह काम कैसा है ?

उत्तर - (१) सब पापों की जड है (२) ज्ञान विज्ञान को नष्ट करनेवाला है।

सम्बन्ध - पूर्व श्लोक में इन्द्रियों को वशमें करके कामरूप शत्रुको मारनेके लिये कहा गया। इसपर यह शङ्का होती है कि जब इन्द्रिय, मन और बुद्धिपर कामका अधिकार है और उनके द्वारा कामने जीवात्माको मोहित कर रखा है तो ऐसी स्थितिमें वह इन्द्रियोंको वशमें करके कामको कैसे मार सकता है। इस शङ्काको दूर करनेके लिये भगवान आत्माके यथार्थ स्वरूपका लक्ष्य करते हुए आत्मबलकी स्मृति कराते हैं -

४२. इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

शब्दार्थ - इन्द्रियाणि = इन्द्रिय। पराणि = बडे हैं। इन्द्रियेभ्यः = इन्द्रियोंसे। मनः = मन। परम = बडा है। मनसःतु = मन से। बुद्धिः = बुद्धि। परा = बडी है। बुद्धेः = बुद्धि से। परतः = बडा। यःतु = जो है। सः = वह आत्मा है। आहुः = बडे कहते हैं।

भावार्थ - इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं; इन इन्द्रियोंसे परम मन है, मनसे भी परम बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त परम है वह आत्मा है।

व्याख्या - पिछले श्लोक में इन्द्रियों को वश में करने के लिए कहा गया प्रश्न उठता है कि कैसे वश में किया जाय ? उसका उत्तर दो श्लोकों में दिया गया। किसी वस्तु का निग्रह करना हो तो उससे ऊपर पहुँचना आवश्यक है। शरीर एक रथ जैसा है। जड है। इन्द्रियाँ घोडों के समान हैं। वे चेतनामय हैं। अतः देह से इन्द्रियों से मन बडा है। मन से बुद्धि बडी है। बुद्धि से आत्मा बडी है। एक से बढ कर एक चेतनामय है। शक्तिशाली है। एक दूसरे के उपरितल में है। आत्मा सब में बडी है। एक तरह से आत्मा ही चेतनामय है बाकी सब जड हैं। आत्मा के सान्निध्य में रहने से (अग्नि के निकट रहनेवाले लोहे की तरह) बुद्धि चेतनामय लगती है। वह प्रकृति (माया) के वश में है। सब दृश्य पदार्थ हैं। आत्मा एक ही

दृक् है। इसलिए आत्मा उज्वल रहे तो इन्द्रियाँ आदि सभी को आसानी से काबू में रखा जा सकता है। तभी पूर्ण इन्द्रिय निग्रह संभव है। भगवानने पहले इस भाव को व्यक्त करते हुए कहा कि 'रसोऽप्यस्य परंदृष्ट्वा निवर्तते' (२-५९)। यह वेदांत का रहस्य है। मुमुक्षुओं को इस पर ध्यान देना चाहिए। यहाँ स्पष्ट कहा गया कि मनुष्य को शरीर, इन्द्रिय, मन या बुद्धि में स्थित रहना नहीं चाहिए। सब के साक्षी के रूप में, सब के परे स्थित आत्मा तक पहुँच कर वहाँ निवास का प्रबंध करना चाहिए। तभी पूर्ण इन्द्रिय निग्रह संभव है। तभी काम आदि का नाश होगा। सांसारिक बंधनों का विच्छेद होगा। जीव को अपनी आत्मा की श्रेष्ठता को जानना चाहिए। तभी वह इन्द्रियों को आसानी से जीत सकेगा। आत्मा में स्थिर निवास की व्यवस्था करके इन्द्रियादि दुष्ट जंतुओं को गोली मार देनी चाहिए। आत्मा के बिना किसी भी ठौर से यह काम नहीं किया जासकता। यही बात भगवान इस श्लोक में और अगले श्लोक में बतलाते हैं।

प्रश्न - आत्मा के स्थान एवं उसकी शक्ति का निरूपण करो ?

उत्तर - देह के ऊपर इन्द्रिय हैं। इन्द्रियों के ऊपर मन है। मन के ऊपर बुद्धि है। बुद्धि के ऊपर आत्मा है। ये सब एक से बढ कर एक श्रेष्ठ हैं।

सम्बन्ध - अब भगवान् पूर्वश्लोकके वर्णनानुसार आत्माको सर्वश्रेष्ठ समझकर कामरूप वैरीको मारनेके लिये आज्ञा देते हैं -

> ***४३. एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।***
> ***जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥***

शब्दार्थ - महाबाहो = महान् बाहुओंवाले हे अर्जुन। एवम् = इस प्रकार। बुद्धेः = बुद्धि से। परम् = अतीत। बुद्ध्या = जान कर। आत्मना = बुद्ध के द्वारा। आत्मानम् = मन को। संस्तभ्य = बडा मान कर। दुरासदम् = जीतने के लिए असाध्य। कामरूपम् = काम को। शत्रुं = शत्रु को। जहि = नष्ट करो।

भावार्थ - इस प्रकार बुद्धिसे परम अर्थात् सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्माको जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो ! तू इस

कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डाल।

व्याख्या - संसार में जितना दुःख है उसका मूल कारण अपने स्वरूप को जीव का न जानना ही है। मनुष्य अपने को शरीर, इन्द्रिय तथा मन समझ कर उनके विकारों को अपने ऊपर आरोपित कर दुःखी होरहा है। देहादि के साथ तादात्म्य ही दुःख का मूल कारण है। इसलिए भगवान यहाँ बतलाते हैं कि हे जीव ! जो आत्मा है वही तुम हो। तुम शरीर आदि नहीं हो। उस आत्मा में स्थित होकर दुसह कामरूपी शत्रु का नाश कर परमानन्दप्राप्त करो। देह, इन्द्रिय एवं मन को वास्तव में चेतनता प्रदान करनेवाली आत्मा ही है। उसी आत्मा को धीरे धीरे पीछे पीछे ढकेल कर देह, इन्द्रिय और मन ऊपर आकर अपनी शक्ति प्रकट कररहे हैं। जीव का अज्ञान ही इसका कारण है। आत्मा का विस्मरण ही इसका मूल कारण है। अतः जीव यदि जागृत होकर आत्म विश्लेषण कर सके और अपने वास्तविक स्वरूप (आत्मा) को याद कर सके तो देह इन्द्रिय और मन आदि सब दब जाएँगे। इसीलिये इस श्लोक में भगवान काम को जीतने और भव के बंधनों से छूटने के लिए आत्मज्ञान की शरण में जाने का संदेश देते हैं। देह तथा इन्द्रियादि का आत्मा के साथ जो संग है उस संग की ग्रन्थि को विवेक रूपी शस्त्र से काटना है। तब इन्द्रियाँ आदि सब दुर्बल एवं निर्वीर्य हो जाएँगे। इसी को ग्रन्थि विच्छेद कहते हैं। अज्ञानी देह और इन्द्रियादि दृश्यजगत् से अपने को बांध लेता है। मगर ज्ञानी उस ग्रन्थि को खोल कर उसे आत्मा से अलग करता है। तब ये इन्द्रियाँ कुछ नहीं कर पातीं वे जीव के अधीन हो जाती हैं। यही वेदांत का परम रहस्य है। एक एक इन्द्रिय, फिर एक एक दृश्य वस्तु को काबू में करने के प्रयत्न से बेहतर है आत्मा में स्थित होना। आत्मनिष्ठ होने से सब कुछ वश में हो जाता है। चलती हुयी रेल गाडी को रोकने के लिए हजारों लोग उसे पकड कर पीछे की तरफ ढकेलने का प्रयत्न करें तो भी गाडी रुक नहीं सकती। परन्तु इन्जन में जो ब्रेक है उसे खींच दें तो ब्रेक लग कर गाडी ठहर जाती है। आत्मविज्ञान ब्रेक जेसा है। इसी रहस्य को भगवान इस श्लोक में बतलाचुके।

"दुरासदम" कहने से स्पष्ट है कि काम रूपी शत्रु शक्तिशाली है। उसे जीतना बहुत मुश्किल है। बरगद का वृक्ष जितना मजबूत रहता है उतना ही हृदय क्षेत्र में कामरूपी वृक्ष मजबूत रहता है। कामरूपी महा पादप असंग रूपी कुल्हाडी से ही काटा जा सकता है। (असंग शस्त्रेण दृढेन छित्वा)।

कामरूपी शतृ को मारने के लिए ये सामान्य काफी नहीं हैं। इसके लिए महाबाहु, शक्तिशाली भुजाएँ तथा महानशक्ति आवश्यक हैं। इसीलिए भगवानने यहाँ अर्जुन को महाबाहो कहा है।

इसलिए जो कामादिशत्रुओं को जीतना चाहते हैं, शोक सागर को जो पार करना चाहते हैं, जो मोक्षपद प्राप्त करना चाहते हैं वे देह और इन्द्रियों को ही सर्वस्व न समझें, उनके विषयों को अपने ऊपर आरोपित न करें, वे भलीभांति जान लें कि आत्मनिष्ठ होने से ही मोक्ष मिल सकता है। तब सब इन्द्रियाँ साधक के काबू में ही रहेंगी। इसीलिए काम आदि को जीतने के लिए भगवानने आत्मज्ञान रूपी अद्भुत साधन के उपयोग पर बल दिया। भगवान श्रीकृष्णने कर्मयोग के बारे में बतलाते हुए अंत में इस अखण्ड ज्ञान का बोध कराया। इसलिए हर साधक को चाहिए कि भगवान के इस सन्देश को अच्छी तरह जान ले, निष्कामकर्म के आचरण के द्वारा अपने चित्त को निर्मल एवं शुद्ध बना ले और इसके द्वारा दृक् एवं दृश्य संबंधी विवेकमय आत्मज्ञान प्राप्त करें।

प्रश्न - काम को जीतने का उपाय क्या है ?

उत्तर - जीव को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि बुद्धि के परे साक्षी के रूप में स्थित आत्मा ही सर्वशक्तिमान है। जीव उसी में स्थिरता हासिल करे तो काम उसे छोड कर भाग जाएगा।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः।

उपनिषत्प्रतिपादित, ब्रह्म विद्या, योगशास्त्र एवं श्रीकृष्णार्जुन संवाद से युक्त
श्रीभगवद्गीता का कर्मयोग शीर्षक यह तीसरा अध्याय है।

ॐ तत् सत्।

ॐ

श्री भगवद्गीता

अथ चतुर्थोऽध्यायः

चौथा अध्याय

ज्ञानयोग :

ज्ञानयोग

इस अध्याय का शीर्षक -

"ज्ञानयोग" इस अध्याय का शीर्षक है। चूँकि इस अध्याय में ज्ञान संबंधी विषय है, ज्ञान तप, ज्ञानयज्ञ, ज्ञान नौका, ज्ञानाग्नि एवं ज्ञान खड्ग वगैरह का विवरण है, अध्यात्मज्ञान की महिमा का वर्णन है और वह ज्ञान किस तरह के लोगों को मिल सकता है, उसका भी विवरण विश्लेषणात्मक ढंग से दिया गया है, अतः इस अध्याय का शीर्षक ज्ञानयोग रखा गया।

इस अध्याय के प्रधान विषय -

१. भगवान का प्रभाव एवं निष्कामकर्मयोग का उल्लेख - (श्लोक १ से श्लोक १८ तक)

२. ज्ञानी का पवित्र आचरण - (श्लोक १९ से श्लोक २३ तक)

३. विभिन्न यज्ञों का वर्णन, ज्ञानयज्ञ की विशेषता - (श्लोक २४ से श्लोक ३२ तक)

४. ज्ञान की महिमा - (श्लोक ३३ से श्लोक ४२ तक)

पिछले अध्याय के साथ इस अध्याय का सम्बन्ध -

यह परम सत्य है कि निष्काम कर्म के द्वारा चित्त जब शुद्ध होता है तब उस निर्मल चित्त में ज्ञान का उदय होता है। कर्मयोग शीर्षक अध्याय में चित्तशुद्धि के लिए आवश्यक कर्माचरण की सभी पद्धतियाँ अच्छी तरह बतायी गयीं। अतः स्पष्ट है कि ज्ञान के अवलंबन के लिए क्षेत्र तैयार हो गया। इसी वजह से

तुरन्त भगवान श्रीकृष्ण, अर्जुन को इस अध्याय में ज्ञानयोग का बोध कराते हैं। ज्ञान ही इस अध्याय का मुख्य विषय है। इस अध्याय में यद्यपि ज्ञान संबंधी समाचार ही ज्यादा है तथापि कहीं कहीं कर्मयोग का भी विवरण है। इस अध्याय के आरंभ में बताया गया कि पिछले अध्याय में वर्णित निष्कामकर्मयोग संबंधी शास्त्र अतिपुरातन है, पहले भगवानने ही सूर्य को इसे बताया, फिर सूर्य से मन्वादि महर्षियों ने उसको मालूम किया। इस तरह निष्कामकर्मयोग की प्रशंसा के साथ इस अध्याय का आरंभ हुआ। प्रारंभिक तीन श्लोकों के द्वारा भगवान निष्कामकर्मयोग की परम्परा बतलाकर उसकी प्रचीनता सिद्ध करके उसकी बडी प्रशंसा करते हैं। -

१. *इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।*
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

शब्दार्थ - अव्ययम् = नाश रहित। इमंयोगम् = इस निष्काम कर्मयोग को। अहम् = मैंने। (पुरा = सृष्टि के आदिकाल में)। विवस्वते = सूर्य को। प्रोक्तवान् = कहा। विवस्वान् = सूर्य। मनवे = (अपने पुत्र वैवस्वत) मनु को। प्राहा = कहा। मनुः = मनु। इक्ष्वाकवे = (अपने पुत्र) इक्ष्वाकु को। अब्रवीत = कहा।

भावार्थ - श्रीभगवान् बोले- मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा।

व्याख्या - इस निष्कामकर्मयोग को सृष्टि के आदिकाल में भगवानने सूर्य से कहा। उनसे कई राजर्षियों ने इसे ज्ञात किया। यह महान योग जीव के चित्त को शुद्ध करता है। स्वरूप की अनुभूति प्राप्त करा कर सांसारिक बंधन से साधक को छुडाता है। मोक्ष प्राप्त करा सकता है। इसलिए जिन साधकोंने इस पर अमल किया उन्होंने मुक्ति पायी। वे ऋषिसत्तम बन गये। समाज में चाहे जिस किसी भी स्तर के क्यों न हो, सबने परमपद प्राप्त किया। ब्राह्मण, राजा, महाराजा आदि सभी उनमें थे।

'अव्ययम्' - निष्काम कर्मयोग चित्तशुद्धि के द्वारा मोक्षरूपी फल प्रदान करता है। इसलिए यह अध्यात्मविद्या अव्यय कही गयी। सत्य का किसी भी काल में नाश नहीं होता। उस सत्य को प्राप्त करानेवाले मार्ग का भी कभी नाश नहीं होता। इसलिए वह अव्यय कहा गया। यद्यपि देश, काल पात्र के अनुसार उसका प्रचार ज्यादा या कम होसकता है तथापि उसका अंत कभी नहीं होता। भगवान ही अवतार लेकर उसकी रक्षा करते हैं।

प्रश्न - निष्काम कर्मयोग कैसा है ?

उत्तर - नाश रहित है। शाश्वत रूप से मोक्ष प्रदान करनेवाला है।

प्रश्न - वह लोक में कैसे प्रचलित हुआ ?

उत्तर - पहले भगवानने सूर्य को बताया। सूर्यने मनु को, मनुने इक्ष्वाकु को बताया। फिर धीरे धीरे लोक में वह व्याप्त हुआ।

२. *एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।*
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥

शब्दार्थ - परन्तप = हे अर्जुन। एवम् = इस प्रकार। परम्परा प्राप्तम् = परम्परागत। इमम् = इस योग को। राजर्षयः = राजर्षि। विदुः = जान गये। महता कालेन = बहुत काल बीतने के कारण। सयोगः = वह योग। इह = इस लोक में। नष्टः = नष्ट हुआ।

भावार्थ - हे परन्तप अर्जुन ! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना। किंतु उसके बाद वह योग बहुत कालसे इस पृथ्वीलोकमें लुप्तप्राय हो गया।

व्याख्या - "राजर्षयः" अर्थात् जब राजा आध्यात्मिक विद्या की अनुभूति पाता है तब वह राजर्षि बनता है। याने राजत्व एवं ऋषित्व दोनों से युक्त व्यक्ति राजर्षि बनता है। पुराने जमाने में कई राजाओं ने यह रहस्य जान लिया। फिर वे राजर्षि बन गये। 'ऋषि' एक उपाधि है। उसे कोई भी प्राप्त कर सकता है।

अध्यात्म विद्या का अर्जन करे तो साधारण व्यक्ति भी महर्षि बन सकता है। निष्कामकर्म योग का अनुष्ठान कर, इन्द्रियों पर विजय पा कर, मन को काबू में करके, काम आदि को हृदय से दूर कर आत्मानुभव पा सकने वाला ही ऋषि कहला सकता है। पुराने जमाने में कई राजा इस मार्ग पर चल कर राजर्षि कहलाने योग्य बन गये। विभिन्न समस्याओं का सामना करते हुए राज करनेवाले राजाही ऐसी विद्या पा सकें तो साधारण व्यक्ति ज्ञानी क्यों नहीं बन सकते ? अकसर कुछ गृहस्थ कहते रहते हैं कि हमारे लिए कई पारिवारिक, व्यावसायिक तथा आर्थिक समस्याएँ रहती हैं, हम हमेशा उन समस्याओं को सुलझाने में ही लगे रहते हैं। हमें आध्यात्मिक विद्या अर्जित करने के लिए समय कहाँ मिलेगा ? वह तो केवल सन्यासियों का काम है। यह श्लोक स्पष्ट करता है कि उपर्युक्त धारणा सही नहीं है। राजाओं की समस्याओं से बढ कर कया गृहस्थों की समस्याएँ होती हैं ? नहीं। इसलिए पुराने जमाने के उन राजाओं की तरह सभी को निष्काम कर्म एवं योग आदि पारमार्थिक विद्याओं को अर्जित कर उन्हें आचरण में लाकर तरने का प्रयत्न करना चाहिए। यहाँ कहा गया कि राजर्षियोंने इसे जान लिया। इसका मतलब यह नहीं कि दूसरोंने नहीं जाना। उन दिनों आध्यात्मिक विद्याओं के जानकारों में राजाओं की संख्या अधिक थी। अर्जुन भी राजा ही थे। अतः संभव है कि राजर्षियों के बारे में कहा गया हो।

"नष्टः" - इस शब्द का अर्थ 'समूल नष्ट' नहीं है। क्यों कि परशुरामने राजाओं का संहार किया था इसलिए बाद को राजर्षियों की वह ब्रह्म विद्या तथा निष्काम कर्मयोग आदि का प्रचार व चलन कम हो गया। भगवानने इस योग को अव्ययम अर्थात् नाशरहित कहा। ऐसी हालत में नष्टः का अर्थ 'पूरा नष्ट हो गया' नहीं लेना चाहिए। परामात्मा जितना शाश्वत है, उनके द्वारा सृजित 'धर्म' भी उतना ही शाश्वत है।

३. *स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।*
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥

शब्दार्थ - मे = मेरा। भक्तः = भक्त। सखाच = मित्र। अपि इति = हो इसलिए। पुरातनः = प्राचीन। सः एव अयं योगः = वह यह निष्कामकर्म योग ही। अद्य = अब। ते = तुम्हारे लिए। मया = मुझसे। प्रोक्तः = कहा गया। उत्तमम् = श्रेष्ठ। एतत् = यह योग। रहस्यम् हि = गोपनीय है।

भावार्थ - तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये यह पुरातन योग मैंने तुझसे कहा है। क्यों कि यह बडा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखनेयोग्य विषय है।

व्याख्या- भगवान श्रीकृष्णने अर्जुन को निष्काम कर्म योग आदि की जो पारमार्थिक विद्या बतायी वह नयी नहीं है। वह अनादिकाल से प्रचलित रही है। इसीलिए 'पुरातन' कहा गया। लेकिन समय के अनुसार यद्यपि उसका प्रचार, कम हुआ तथापि देवताओं के सहयोग से वह अक्षुण्ण ही रहा। वह पुरातन विद्या ही श्रीकृष्णने अर्जुन को सिखाया। प्रश्न उठता है कि इस योग की शिक्षा अर्जुन को ही भगवानने क्यों दी ? इसका एक कारण है। अर्जुन परमभक्त थे। परम मित्र भी थे। इसीलिए भगवानने अर्जुन को उस विद्या की शिक्षा दी। अर्जुन की तरह दूसरा कोई निर्मल भक्ति एवं परम प्रेम हासिल कर सके तो उसे भी भगवान अध्यात्म्यज्ञान की शिक्षा दे सकते थे। इसलिए अर्जुन की जैसी योग्यता साधक को प्राप्त करनी चाहिए। इसके बाद भगवान की कृपा से ज्ञान अपने आप साधक को मिल सकता है।

''रहस्यं ह्येतदुत्तमम्' - कहा गया कि भगवान के द्वारा बोधित यह पारमार्थिक विद्या और यह निष्कामतत्त्व अत्यंत गोपनीय एवं महान् है। आम तौर पर रहस्य कोई प्रकट नहीं करता। परन्तु अर्जुन की योम्यता पर ध्यान देकर भगवान ने यह गोपनीय विद्या उन्हें बता दी। ''उत्तमम्'' कहा है। इसलिए स्पष्ट है कि संसार की अन्य विद्याओं से यह विद्या श्रेष्ठ है।

प्रश्न - भगवानने अर्जुन को जिस पारमार्थिक विद्या एवं निष्कामकर्म तत्व का बोध कराया उसका स्वरूप क्या है ?

उत्तर - (१) वह पुरातन है। (२) उत्तम है। (३) गोपनीय है।

प्रश्न - ऐसे रहस्य की शिक्षा अर्जुन को ही क्यों दी गयी ?

उत्तर - अर्जुन भगवान के परमभक्त थे। परम मित्र थे। इसलिए उन्हें यह शिक्षा दी गयी।

अर्जुन उवाच -

> ४. *अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।*
> *कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ ׳.ोक्तवा।निति ॥*

शब्दार्थ - अर्जुन उवाच = अर्जुन बोले। भवतः = तेरा। जन्म = जन्म। अपरं = बाद का है। विवस्वतः = सूर्य का। जन्म = जन्म। परम = पहले का है। आदौ = सृष्टि के आरंभ में। त्वम् = तुम। प्रोक्तवान इति (यत्) = कहा जाता है कि तुमने बताया। एतत् = इसे। कथम् = किस तरह। निजानीयाम् = समझ लूँ ?

भावार्थ - अर्जुन बोले-आपका जन्म तो अर्वाचीन-अभी हालका है और सूर्यका जन्म बहुत पुराना है। अर्थात् कल्पके आदिमें हो चुका था; तब मैं इस बातको कैसे समझूँ कि आपही ने कल्पके आदिमें सूर्यसे यह योग कहा था।

व्याख्या - राजसूय याग के समय अर्जुनने भीष्म जैसे महापुरुष के मुख से सुना था कि श्रीकृष्ण स्वयं परमात्मा हैं। तो भी अर्जुन ने भगवान से पूछा कि आपका जन्म तो अभी हाल ही में हुआ। इस प्रकार कहने का मतलब क्या है ? इसके लिए निम्न लिखित कारण हो सकते हैं। (१) शायद संभव है कि अर्जुन भगवान के मुँह से ही उनके महिमान्वित तत्व का विवरण सुनना चाहते हों। (२) यह भी संभव है कि सामान्य लोगों के संदेह का निवारण भगवान की व्यापकता के बारे में, कराना चाहते हों।

श्रीकृष्ण का स्वरूप केवल पांचभौतिक नहीं था। वे तो त्रिकालों के संचालक तथा विश्व भर में व्याप्त परमात्मा थे। यह बात भगवान ही अगले श्लोक में बताते हैं। तीन दृष्टियाँ होती हैं (१) देह दृष्टि (२) मनो दृष्टि (३) आत्मदृष्टि। किसी व्याक्ति को देखते ही उसके शरीर, चर्म, उसकी सुन्दरता,

उसके जन्म, उसकी जात, उसके रंग और आकार का स्फुरण होता है तो वह देहदृष्टि है। उसकी विद्वत्ता, उसके गुण अवगुण, उसके चरित्र का स्फुरण होता है तो वह मनोदृष्टि है। उसके निर्मल आत्मस्वरूप का संदर्शन आत्मदृष्टि है। महापुरुष सब आत्मदृष्टि के होते हैं। सामान्य लोग पहली और दूसरी दृष्टि के होते हैं। शरीर एवं मन प्रकृति जन्य हैं। नश्वर हैं। इसलिए ये दृष्टियां ठीक नहीं हैं। अतः आत्मदृष्टि का ही अभ्यास हर एक को करना चाहिए। इसी बात का बोध भगवान श्रीकृष्ण अब कराते हैं।

सम्बन्ध - भगवान अपने अवतार तत्व का रहस्य समझाने के लिए अपनी सर्वज्ञता प्रकट करते हैं -

श्रीभगवानुवाच -

५. *बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।*
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥

शब्दार्थ - श्रीभगवान उवाच = श्री भावान बोले। अर्जुन = हे अर्जुन ! मे = मेरे। तव च = तेरे भी, बहूनि-कई। जन्मानि-जन्म। व्यतीतानि = बीत गये। तानि सर्वाणि = उन सब को। अहम् = मैं। वेद = जानता हूँ। परन्तप = हे अर्जुन ! त्वम् = तू। न वेत्थ = नहीं जानता।

भावार्थ - श्रीभगवान् बोले- हे परन्तप अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। उन सबको तू नहीं जानता, किंतु मैं जानता हूँ।

व्याख्या - ईश्वर एवं जीव दोनों वास्तव में एक ही हैं। आत्मस्वरूप हैं। ईश्वर माया को जीत चुके हैं। पर जीव माया के अधीन हैं। यही उन दोनों में अंतर है। ईश्वर माया को जीत कर लोकहित के लिए कई जन्म लेते हैं। जीव माया के अधीन होकर कर्मबद्ध हो कई जन्म लेता है। ईश्वर सर्वज्ञ हैं। इसलिए वे अपने सभी जन्मों का वृत्तांत जानते हैं। लेकिन जीव किंचिज्ञ है। अतः उसे अपने जन्मों की स्मृति नहीं रहती। यह सत्य भगवान इस श्लोक में बताते हैं।

अज्ञान के कारण जीव की दृष्टि वर्तमान जन्म तक ही सीमित रहती है। वास्तव में हर जीव के करोडों जन्म बीत चुके होते हैं। आत्मज्ञान पाकर कर्मबंध को न तोडे तो उसे और जन्म लेना पडता है। पुण्य के फल से प्राणी को मानव जन्म मिला। यह मोक्षधाम के सोपान जैसा है। फिर भी वह आत्मज्ञान प्राप्त न कर, भोग विलास में डूबा रहे तो समझना चाहिए कि वह सचमुच अभागा है। इसलिए हर व्यक्ति को चाहिए कि भगवान श्रीकृष्ण के कहे अनुसार अपने पूर्व जन्मों का स्मरण करे, उन यमयातनाओं और गर्भनरक की याद करे। फिर वह उनसे मुक्ति पाने का प्रण करे। माता के गर्भ में जब जीव रहता है तब अपने सातवें मास की अवस्था में एक पल भर के लिए वह दिव्यदृष्टि पाता है। अपने जन्मों की याद करके वह डर जाता है। भगवान की शरण की मांग करता है। वादा करता है कि जन्मराहित्य के लिए इस जीवन में प्रयास करूँगा। परन्तु गर्भ से बाहर निकलने के बाद सब कुछ भूल जाता है। यह उचित नहीं है। अतः जीव को चाहिए कि वह भगवान की शरण में जावे और इसी जन्म में बन्धनों से मुक्ति पावे। जो मनुष्य तरक्की चाहता है उसे पूर्वजन्म को भूलना नहीं चाहिए। भगवान श्रीकृष्णने अर्जुन को पूर्व जन्मों का स्मरण कराया। अर्जुन की तरह हर मनुष्य कई जन्म ले चुका है। अतः मनुष्य का कर्तव्य है कि वह उनका स्मरण करे, आत्मानुभूति पावे, भव बंधन सब तोड दे और जन्म राहित्य की प्राप्ति के लिए प्रयास करे।

६. *अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।*
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यातममायया॥

शब्दार्थ - (अहम = मैं) अजः आपि सन् = जन्म रहित होकर भी। अव्ययात्मा = नाश रहित स्वरूप का होकर भी। भूतानाम् = प्राणियों का। ईश्वरः आपिसन् = ईश्वर होकर भी। स्वाम् = अपनी। प्रकृतिम् = प्रकृति को। अधिष्ठाय = अधीन करके। आत्म मायया = अपनी माया शक्ति से। संभवामि = प्रकट होता हूँ।

भावार्थ - मैं अजन्मा और अविनाशी स्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।

व्याख्या - पिछले श्लोक में श्रीकृष्ण भगवानने कहा कि मेरे भी कई जन्म बीत गये। इससे संदेह हो सकता है कि क्या भगवान भी सभी जीवों की तरह जन्म और कर्म के वशीभूत हैं ? इसका उत्तर तुरन्तु इस श्लोक में दिया गया है। ईश्वर का जन्म अलग है। सामान्य प्राणियों का जन्म अलग है। जीव प्रकृति के अधीन होकर कर्म के अनुसार जन्म लेरहे हैं। यहाँ ईश्वर के तीन लक्षण बताये गये हैं। (१) जन्मरहित (२) नाश रहित (३) प्राणि जगत् का नियामक। इस तरह स्वयं जन्मरहित होकर भी वह अपनी स्वशक्ति से लोकहित के लिए अवतार ले रहा है। इस अवतार तत्व से पता लगता है कि ईश्वर की प्राणियों के प्रति कितनी करुणा है। धर्म के उद्धार के प्रति उनके दिल में कितनी उत्सुकता है। इन वाक्यों से स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण केवल वसुदेव के पुत्र ही नहीं बल्कि परमात्मा हैं। जगत् के नियामक हैं।

प्रश्न - भगवान कैसा है ?

उत्तर - (१) जन्म रहित है। (२) नाश रहित है। (३) जगत् के नियामक हैं।

प्रश्न - ऐसे जन्मरहित ईश्वर फिर क्यों जन्म लेते हैं ?

उत्तर - प्रकृति को वश में कर लोकहित के लिए ही ईश्वर जन्म लेते हैं। वे अज्ञानियों की तरह कर्मबद्ध नहीं हैं।

सम्बन्ध - भगवान् दो श्लोकोंमें अपने अवतारके अवसर, हेतु और उद्देश्य बतलाते हैं -

७. *यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।*
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजम्यहम्॥

शब्दार्थ - भारत = हे अर्जुन। यदा यदा = जब जब। धर्मस्य = धर्म की।

ग्लानि = हानि। अधर्मस्य = अधर्म की। अभ्युत्थानम् = वृद्धि। भवति = होती है। तदा = तब। आत्मानम् = अपना। अहम = मैं। सृजामि = सृजन करता हूँ।

भावार्थ - हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ।

व्याख्या - भगवान के इन वाक्यों से स्पष्ट है कि धर्म कितना महान है। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' के अनुसार धर्माचरण ही मनुष्य की रक्षा कर सकता है। जीव को शांति एवं शाश्वत सुख वही प्रदान करता है। इसीलिए भगवानने धर्म की रक्षा का प्रण किया। इससे धर्म की महानता स्पष्ट होती है। भगवान के संदेश से ज्ञात होता है कि अधर्म की वृद्धि को भगवान बर्दास्त नहीं कर सकते। अतः लोकहित को चाहनेवाले सभी का कर्तव्य है कि वे धर्म की रक्षा एवं अधर्म के नाश के लिए कमर कसें। तभी वे ईश्वर के कहे अनुसार चलने में समर्थ होंगे और अपने जन्म को धन्य बनाएंगे।

प्रश्न - भगवान कब अवतरित होते हैं ?

उत्तर - धर्म का जब ह्रास होता है, अधर्म का उत्थान होता है तब भगवान अवतरित होते हैं।

८. ***परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।***
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

शब्दार्थ - साधूनां = साधु संतों की। परित्राणाय = रक्षा के लिए। दुष्कृताम् = दुष्टों के। विनाशाय च = विनाश के लिए। धर्म संस्थापनार्थाय = धर्म की स्थापना के लिए। युगे युगे = हर युग में। संभवामि = प्रकट होरहा हूँ।

भावार्थ - साधु पुरुषों का उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करनेके लिये मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ।

व्याख्या - सन्मार्ग पर चलनेवालों, सच्चरित्र जनों तथा साधु संतों की भगवान रक्षा करते हैं। जो भगवान से रक्षा चाहते हैं उनमें योग्यता होनी चाहिए। वह योग्यता जात-पांत, कुल गोत्र, वर्ग-वर्ण तथा धर्म-कर्म से संबंधित नहीं है। वह साधुता से संबंधित है। सन्मार्गगामी सभी, भगवान से रक्षा पाते हैं। भगवानने कहा कि ऐसे साधु संतों की रक्षा के लिए ही अवतरित होता हूँ। फिर उन्हेने कहा कि दुष्टों के नाश के लिए जन्म लेता हूँ। अतः लोगों को चाहिए कि वे दुष्कर्मों तथा पाप कार्यों से दूर रहें। सन्मार्ग पर चलें। लोकहित में लगे रहें।

भगवान के अवतार का तीसरा लक्ष्य है धर्म की स्थापना। धर्म की रक्षा करने का प्रण भगवानने किया। अतः भगवान की इच्छा के अनुसार हर व्यक्ति चले और अपने जीवन को सार्थक बनाये, यही हमारी सलाह है। यहाँ 'साधु' कहा गया। साधु का मतलब सन्यासी या बैरागी नहीं है। साधु का मतलब है अच्छा या भला। अच्छे बर्तावेवाले सब साधु ही हैं। वे गृहस्थ भी हो सकते हैं। ब्रह्मचारी भी हो सकते हैं।

'युगे युगे' का मतलब युग में एक बार अवतरित होना नहीं है। उसका मतलब है कभी कभी याने आवश्यकता पडने पर।

इस श्लोक में त्राणाय के बदले परित्राणाय, नाशाय के बदले विनाशाय, स्थापनार्थाय के बदले संस्थापनार्थाय कहा गया। यह उल्लेखनीय प्रयोग है।

कुछ लोग पूछ सकते हैं कि भगवान दयालु हैं तो दुष्टों को दण्ड क्यों देते हैं ? दया करनी हैन? वास्तव में दुष्टों को दण्ड देना भी उनपर अनुग्रह करना ही है। भगवान दण्ड दें तो दुष्टों के पाप धुल जाएंगे। अपराधियों को दण्ड न दें तो समाज में उनकी संख्या बढ जाएगी। अत्याचार बढ जाएंगे। सारा समाज खतरे में पड जाएगा। शरीर में फोडा हो तो उसका आपरेषन कर उसे हटा देना शरीर की रक्षा के लिए आवश्यक है। इसी प्रकार समाज की रक्षा एवं भलाई के लिए दुष्टों तथा अपराधियों को दण्ड देना बहुत जरूरी है।

सम्बन्ध - इस प्रकार भगवान अपने दिव्य जन्मोंके अवसर, हेतु और उद्देश्यका

वर्णन करके अब उन जन्मोंकी और उनमें किये जानेवाले कर्मोंकी दिव्यताको तत्त्वसे जाननेका फल बतलाते हैं -

९. *जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।*
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

शब्दार्थ - अर्जुन = हे अर्जुन ! यः = जो। एवम् = इस तरह। मे = मेरे। दिव्यम् = दिव्य। जन्म च = जन्म को। कर्म च = कार्यों को। तत्वतः = यथार्थ रूप से। वेत्ति = जानता है। सः = वह। देहम् = शरीर को। त्यक्त्वा = छोड कर। पुनः = फिर से। जन्म = जन्म। न एति = नहीं पाता। माम् = मुझको। एति = पाता है।

भावार्थ - हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं-इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझे ही प्राप्त होता है।

व्याख्या - "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" यह उपनिषद्वाक्य है। इसका अर्थ है कि ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही होता है। भगवान के दिव्य जन्म और कर्मो का जो यथार्थरूप से जानता है वह भक्ति से परिपूरित होकर उसी में लीन रहता है। भगवान के स्वरूप को अच्छी तरह जानना 'साधना' है। भगवान में लीन होना 'साध्य' है। साधना और साध्य के बारे में इस श्लोक में कहा गया है। परन्तु 'तत्वतः' कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि भगवान के तत्व को अनुभव के द्वारा समझना चाहिए। भाषणों के द्वारा कोई ईश्वर तत्व जान नहीं सकता।

'दिव्यम्' कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान के जन्म, कर्म एवं उनकी लीलाएँ प्रकृतिजन्य नहीं हैं। क्यों कि प्रकृति भगवान के वश में है, अतः उनकी लीलाएँ सामान्य जनों की लीलाएँ जैसी नहीं होती। भगवानने कहा कि भगवान का तत्व जाननेवाला पुनर्जन्म नहीं पाता, तुरन्तु फिर कहा कि 'मुझे ही प्राप्त करेगा। इससे ज्ञात होता है कि जन्म राहित्यवाला पद शून्य नहीं

है, वह सच्चिदानन्दघनवाले आत्मस्वरूप की ही स्थिति है।

"देह त्याग कर मुझे प्राप्त करेगा" इस वाक्य का अर्थ यह नहीं है कि देह को त्यागने के बाद ही मोक्ष प्राप्त करेगा। वास्तविक बात यह है कि जिस क्षण जीव भगवान का तत्व अच्छी तरह जानता है उसी क्षण वह मोक्ष पाता है। यहाँ देहान्तर चर्चा का उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि देह त्यागने के बाद मुक्त पुरुष फिर देह नहीं पाता।

प्रश्न - भगवान का सायुज्य कौन पासकते हैं ?

उत्तर - भगवान के अप्राकृत जन्म, कर्म एवं तत्व को जो मनुष्य अच्छी तरह समझता है, जानता है वह भगवान का सायुज्य पाता है।

१०. वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥

शब्दार्थ - वीतराग भयक्रोधाः = अनुराग, भय, क्रोध को जो छोड चुके हैं। मन्मयाः = मुझ ही में जिनका चित्त लगा हुआ है। माम् = मुझे। उपाश्रिताः = जो आश्रित हैं। (ऐसे) बहवः = अनेक। ज्ञान तपसा = ज्ञान तप से। पूताः = पवित्र बन कर। मद्भावम = मेरे स्वरूप को। आगताः = प्राप्त कर चुके हैं।

भावार्थ - पहले भी, जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे और जो मुझमें अनन्यप्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहनेवाले बहुतसे भक्त उपर्युक्त ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं।

व्याख्या - ज्ञानयोग शीर्षक इस अध्याय में गीताचार्य तप, यज्ञ, अग्नि, नाव, तथा खड्ग आदि विविध रूपों में ज्ञान का वर्णन किया। संसार में अनेक तप हैं। परन्तु ज्ञान का तप सर्वोपरि है। क्योंकि जिस तरह शरीर के मैल को जल धोदेता है उसी तरह जन्म जन्म से अर्जित पाप एवं वासनाओं के मैल को ज्ञान का तप धोदेता है। चित्त को शुद्ध बनाता है। (इसीलिए 'पूताः' शब्द का प्रयोग किया गया है)। मोक्ष की प्राप्ति के लिए चित्त की निर्मलता अत्यंत आवश्यक है। अब

प्रश्न उठता है कि ज्ञान-तप माने क्या है ? इस श्लोक में कहा गया कि (१) जहाँ राग, क्रोध और भय न हों (२) जहाँ जीव भगवन्मय रहता हो (३) जहाँ जीव भगवान के आश्रित होकर रहता हो वहाँ ज्ञान-तप रहता है। फिर प्रश्न उठता है कि ऐसे ज्ञान-तप प्रयोजन क्या हैं ? प्रयोजन हैं (१) चित्त की शुद्धि (२) परमात्मा के स्वरूप की प्रप्ति।

"वीतराग भयक्रोधाः" - ज्ञान-तप की प्रथम साधना है राग, भय एवं क्रोध का त्याग। यह दुष्टत्रय साधना के लिए बडे अवरोध हैं। इसलिए इन तीन दुर्गुणों को दूर करना चाहिए। अब प्रश्न उठता है कि कैसे दूर किया जाय ? भगवान बताते हैं कि "मन्मयाः मामुपाश्रिताः" अर्थात् निरंतर भगवान का चिंतन और भगवान का आश्रय लेने से दुष्टत्रय दूर होते हैं। ये दोनों एक दूसरे के सहायक हैं। अतः एक ही समय दोनों को अमल में लाना चाहिए।

"बहवः" कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि पहले इस तरह अमल करने से कई साधक ब्रह्मसायुज्य पा चुके हैं। अतः मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे ये साधानाएँ करें और मोक्ष प्राप्त करें।

इस श्लोक के द्वारा निम्न लिखित बातें स्पष्ट की गयी।

(१) भगवत्स्वरूप पाने के लिए चित्त की निर्मलता आवश्यक है।

(२) हृदय की निर्मलता की प्राप्ति के लिए ज्ञान-तप आवश्यक है।

(३) ज्ञान-तप का मतलब है -

(१) काम, क्रोध एवं भय का त्याग।

(२) भगवान में तल्लीनता।

(३) भगवान का आश्रय पाना।

प्रश्न - हृदय की शुद्धि किससे होती है ?

उत्तर - तप से (इसका विवरण ऊपर दिया गया)।

११. ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

शब्दार्थ - पार्थ = हे अर्जुन ! ये = जो। यथा = जिस प्रकार। माम् = मुझे। प्रपद्यन्ते = आश्रित होते हैं। तान् = उन्हें। तथा एव = उसी प्रकार। अहम् = मैं। भजामि = अनुग्रह करता हूँ। मनुष्याः = मनुष्य। मम = मेरे। वर्त्म = मार्ग को। सर्वशः = सब तरह से। अनुवर्तन्ते = अनुसरण करते हैं।

भावार्थ - हे अर्जुन ! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ; क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं।

व्याख्या - एक मशहूर कहावत है "जैसा करोगो वैसा भरोगे।" भगवानने कहा है कि जो जिस भक्ति भावना से मेरी सेवा और आराधना करेंगे उसी रूप में मैं उन पर अनुग्रह करूँगा। ईश्वर कल्पवृक्ष जैसे हैं। उनकी शरण में जाकर जो मांगें उसे वे दे देंगे। किसी को उत्तम फल या मोक्ष न मिले तो जिम्मेवार ईश्वर नहीं हैं। उसके लिए जिम्मेवार साधक ही हैं। पाल न फहरावे तो नाव नहीं चलेगी। ईश्वर के अनुग्रह रूपी हवा यद्यपि चलती रहती है तथापि साधक अपने हृदय रूपी पाल नहीं उठाएँगे और उन्हें भगवान की ओर उन्मुख नहीं करेंगे तो जीवन रूपी नाव आगे नहीं बढेगी। लोहे को जंग लगे तो चुंबक उसे आकर्षित नहीं करता। इसी तरह मन में यदि विषय वासनाएँ रहें और दृश्य जगत संबंधी दोष रहें तो भगवान उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं करते। इसलिए साधकों के मन की परिपक्वता के अनुसार ईश्वर उन्हें पारमार्थिक फल प्रदान करते हैं।

"मम वर्त्मानु वर्तन्ते" ईश्वर भक्तों पर प्रेम, दया, करुणा एवं सद्भावना दिखाते हैं। भक्त भी भगवान के प्रति आदर, भक्ति एवं श्रद्धा दिखाते हैं। इसलिए लोग भी सन्मार्ग पर चल कर अपने जीवन को धन्य बनाने का प्रयास करते हैं।

सम्बन्ध - यदि यह बात है, तो फिर लोग भगवान को न भजकर अन्य देवताओंकी उपासना क्यों करते हैं ? इस पर कहते हैं -

१२. काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं भजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥

शब्दार्थ - कर्मणाम् = कर्मों की। सिद्धिम् = फल प्रप्ति को। काङ्क्षन्तः = अपेक्षा करनेवाले। इह = इस लोक में। देवताः = देवताओं को। यजन्ते = पूजते हैं। हि = क्यों कि। कर्मजा = कर्मों से होनेवाली। सिद्धः = फल प्राप्ति। मानुषे लोके = मनुष्य लोक में। क्षिप्रं = शीघ्र ही। भवति = मिलती है।

भावार्थ - इस मनुष्यलोक में कर्मों के फलको चाहनेवाले लोग देवताओंका पूजन किया करते हैं; क्योंकि उनको कर्मों से उत्पन्न होनेवाली सिद्धि शीघ्र मिल जाती है।

व्या। व्या। - यहाँ कहा गया है कि दूसरे लोकों की अपेक्षा इस मनुष्य लोक में कर्मों के लिए फल की सिद्धि शीघ्रता से होती है। अतः लोगों को चाहिए कि वे सन्मार्ग पर चलें और सत्कर्म करें। यह कर्म के अनुष्ठान का लोक है। बाकी कर्मफल को भोगनेवाले लोक हैं। इसलिए वहाँ मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयास करने की आवश्यकता नहीं रहती। विष्णु भगवानने गरुड से पूछा था कि इस मानव लोक में नरक रूपी रोग की चिकित्सा सत्कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा न करे तो मनुष्य (मृत्यु के बाद) कर्मानुष्ठान रहित लोकों को प्राप्त कर भी भवरोग से पीडित होकर क्या कर सकेगा ?

इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः।
गत्वा निरौषधं देशं व्याधिस्थः किं करिष्यति॥

इसलिए लोगों को चाहिए कि वे जल्दी (गरुड पुराण) सत्कर्म करके चित्त को शुद्ध बनावें और ज्ञान की प्राप्ति के द्वारा इस लोक में ही मोक्षधाम की प्राप्ति कर जीवन को धन्य बनावें।

प्रश्न - कर्म का फल किस लोक में शीघ्र मिलेगा ?

उत्तर - मनुष्यलोक में।

१३. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

शब्दार्थ - चातुर्वर्ण्यं = चार वर्ण। गुण कर्म विभागशः = सत्वादि गुणों, उन गुणों से प्रेरित होकर किये जानेवाले कर्मों और उनके विभाजन के अनुसार। मया = मुझसे। सृष्टम् = सृजे गये। तस्य = उनके। कर्तारम् अपि = कर्ता होकर भी। माम् = मुझे। अकर्तारम् = अकर्ता। अव्ययम् = अविनाशी। विद्धि = जानो।

भावार्थ - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-इन चार वर्णोंका समूह, गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान।

व्याख्या - भगवानने गुणों और उन गुणों से संबंधित कर्मों के अनुसार लोगों को चार वर्णों में (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) विभाजित किया।

गुण	वर्ण	कर्म
केवल सत्वगुणवाले	ब्राह्मण	शम-दम आदि तथा तपस्या
सत्वगुण कम और रजोगुण अधिकवाले	क्षत्रिय	शौर्य, धैर्य, गांभीर्य आदि से युक्त, युद्ध करना एवं राज करना।
सत्वगुण कम और रज एवं तमोगुण अधिकवाले	वैश्य	खेती, गोपालन एवं वाणिज्य आदि
रजोगुण कम एवं तमोगुण अधिकवाले	शूद्र	सेवा आदि

इस प्रकार भगवानने लोगों को विभाजित किया। सृष्टि से संबंधित कर्म किये। फिर भी वे कर्तृत्व रहित एवं निर्विकार ही रहे। कर्ता हो कर भी अकर्ता बने रहे। महान् लोग संग रहित हो कर कर्म करते हैं। इसीलिए कर्तृत्व राहित्य के कारण कर्म बंध लेशमात्र भी उन्हें नहीं बांधता।

१४. न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥

शब्दार्थ - माम् = मुझे। कर्माणि = कर्म। न लिम्पन्ति = लिप्त नहीं करते। मे = मुझे। कर्म फले = कर्म के फल में। स्पृहा = इच्छा। न = नहीं है। इति = इस प्रकार। माम् = मुझे। यः = जो। अभिजानाति = जानता है। सः = वह। कर्मभिः = कर्मों से। न बध्यते = नहीं बंधता।

भावार्थ - कर्मोंकि फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते- इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता।

व्याख्या - स्पष्ट ज्ञात होता है कि भगवान कर्मफल की अपेक्षा के बिना कर्म करते हैं। ऐसी स्थिति में जीव का भी कर्तव्य है कि वह फल की अपेक्षा के बिना कर्म करे। फलस्वरूप वह कर्म से दूर रहेगा। कर्म बंध से मुक्त होगा।

१५. एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।।

शब्दार्थ - एवं = इस प्रकार। ज्ञात्वा = जान कर। पूर्वैः = पूर्वकाल के। मुमुक्षुभिः अपि = मुमुक्षुओं से भी। कर्म = कर्म। कृतम् = किया गया। तस्मात् = इसलिए। त्वम् = तुम। पूर्वैः = पूर्वजोंद्वारा। कृतम् = किये गये। पूर्वतरं = बहुत पुराने। कर्म एव = कर्तृत्व रहित (निष्काम) कर्म ही। कुरु = करो।

भावार्थ - पूर्वकालके मुमुक्षुओंने भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किये हैं। इसलिये तू भी पूर्वजोंद्वारा सदासे किये जानेवाले कर्मोंको ही कर।

व्याख्या - निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि निष्कामकर्म मोक्ष प्राप्ति के लिए सोपान जैसा है। मोक्ष रूपी सौध का निर्माणकार्य वहीं से शुरू होता है। इसीलिए कई मुमुक्षुओंने निष्कामकर्म का तत्व जान कर वैसा ही करके अपना जीवन धन्य बनाया। इसीलिए भगवान आदेश देते हैं कि तुम भी उसी प्रकार फल की अपेक्षा न करके कर्म करो। कहा कि "कुरु कर्मैव" कर्म ही करो। इससे अनासक्त कर्म की विशेषता प्रकट होती है। भगवानने 'पूर्व तरम्' कहा इससे स्पष्ट होता है कि यह नया नहीं है। बहुत पुराना है। पुराने जमाने से कई

महानुभावोंने इसे अपनाया और अपने जन्म को चरितार्थ किया। भगवान आदेश देते हैं कि इस दिव्य औषध के सेवन से कई साधक भवरोग से मुक्त हुए। तुम भी इस औषध का सेवन करो और भव रोग से मुक्ति पाकर निष्कामकर्म को आचरण में लाओ और अपना जीवन धन्य बनाओ।

१६. किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

शब्दार्थ - कर्म = कर्म। किम = कौन सा। अकर्म = अकर्म। किम = कौन सा। इति अत्र = इस विषय में। कवयः अपि = मेधावी भी। मोहिताः = मोहित हुये। यत् = जिसे। ज्ञात्वा = जान कर। अशुभात = अशुभ से। मोक्ष्यासे = विमुक्त हो सकते हो। तत्कर्म = उस कर्म को। ते = तुझे। प्रवक्ष्यामि = अच्छी तरह समझाऊँगा।

भावार्थ - कर्म का रहस्य गूढ है। इसीलिए बडे बडे विद्वान और शास्त्रविद् भी उसको समझ नहीं सके। इसीलिए भगवानने दया करके उसे समझाना चाहा। प्रश्न उठता है कि उस कर्म तत्व के ज्ञान से फल क्या मिलेगा ? समाधान है कि मनुष्य इस अशुभ सांसारिक क्लेशों से मुक्त हो सकेगा। इसलिए सांसारिक क्लेशों से जो मुक्त होना चाहते हैं वे भगवान के द्वारा प्रकट इस कर्म पद्धति को अच्छी तरह जान लें और आचरण में लाकर कृतार्थ बनें।

प्रश्न - अशुभ संसार के बंधन से मुक्त होने का उपाय क्या है ?

उत्तर - अच्छी तरह समझ लेना है कि कर्म क्या है ? अकर्म क्या है ? फिर उसके अनुसार आचरण करना है। यही उत्तम उपाय है।

सम्बन्ध - कर्मोंके तत्त्वको भलीभाँति समझनेकी आवश्यकता है। इस भावको स्पष्ट करनेके लिये भगवान कहते हैं -

१७ कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥

शब्दार्थ - कर्मणः अपि = शास्त्र विहित कर्म। (कास्वरूप) बोद्धव्यं = जानना चाहिए। विकर्मणः च = शास्त्र निषिद्ध कर्म। (का स्वरूप) बोद्धव्यं = जानना चाहिए। अकर्मणः च = अकर्म का (स्वरूप) बोद्धव्यं = जानना चाहिए। हि = क्यों कि। कर्मणः = कर्म का। गतिः = तत्व। गहना = गहन है।

भावार्थ - कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये और अकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये तथा विकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये; क्योंकि कर्मकी गति गहन है।

व्याख्या -कर्म = करने लायक कर्म (विहित कर्म)

विकर्म = करने के अयोग्य कर्म (निषिद्ध कर्म)

अकर्म = कर्म किये बिना आलसी रहना।

इनका और एक अर्थ भी बताया जा सकता है।

कर्म = सामान्य कर्म।

विकर्म = काम क्रोध से रहित होकर, निष्काम भाव से ईश्वरार्पणवाली बुद्धि से कर्म करना।

अकर्म = अनासक्त भाव से कर्म करने पर चित्त शुद्ध होता है। इससे नैष्कर्म्य आत्मा की स्थिति प्राप्त होती है। अर्थात् कर्म और विकर्मों के संयोग से प्राप्त कर्तृत्व रहित निष्क्रिय आत्मस्थिति ही अकर्म है।

कर्मयोग को अच्छी तरह आचरण में लाना चाहें तो कर्म विकर्म एवं अकर्म संबंधी रहस्य को अच्छी तरह जानना चाहिए।

सम्बन्ध - इस प्रकार श्रोताके अन्तःकरणमें रुचि और श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये कर्मतत्त्वको गहन एवं उसका जानना आवश्यक बतलाकर अब अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् कर्मका तत्त्व समझाते हैं -

१८. कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

शब्दार्थ - कर्मणि = कर्म में। अकर्म = अकर्म को। यः = जो। पश्येत् = देखता

है। अकर्मणिच = अकर्म में। कर्म = कर्म को। यः = जो। (पश्येत् = देखता है)। सः = वह। मनुष्येषु = मनुजों में। बुद्धिमान् = बुद्धिमान। सः = वह। युक्तः = योगी। कृत्स्नकर्मकृत् = समस्त कर्मों को करनेवाला है।

भावार्थ - जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वह योगी समस्त कर्मोंको करनेवाला है।

व्याख्या - कर्म में अकर्म को देखना - कर्तृत्व के बिना, फल की अपेक्षा न करके जितना भी कर्म करें वह बंधन में नहीं बांधता। तब कर्म राहित्य ही होता है। अर्थात् वह अकर्म ही होता है। दर्पण का काम है वस्तु का प्रतिबिंब दर्शाना। वह यद्यपि दिनभर वह काम करता है तथापि प्रतिबिंबित वस्तु उससे बंधित नहीं होती। दर्पण निर्मल और निष्क्रिय ही रहता है। इसी तरह कई महानुभाव आत्मस्थिति में रह कर अपने शरीर के अवयवों के द्वारा कई लोकहित के कार्य करते रहते हैं, अपनी जीवनयात्रा से संबंधित कार्य करते रहते हैं, परन्तु वे अकर्ता ही रहते हैं। अनासक्त चित्त से काम करने के कारण कर्म स्वयं अकर्म बन कर नैष्कर्म्य के रूप में बदलता है। वह बंधन में मनुष्य को नहीं बांधता। इसे जानना ही कर्म में अकर्म को देखना है। आसक्ति एवं कर्तृत्व की भावना से जो कर्म किया जाता है वह मनुष्य को भव के बंधन में बांधता है। आसक्ति से युक्त न होकर अनासक्त भावना से किया जानेवाला कर्म अकर्म होता है। इस प्रकार कर्म में अकर्म को जो देख सकता है वह बुद्धिमान है। वह निष्काम कर्म करते हुए चित्त को शुद्ध बना कर आत्मस्थिति पाता है। वह जीवन का लक्ष्य प्राप्त करता है। कर्मों का फल पाता है। इसीलिए उसके लिए तीन विशेष शब्दों का प्रयोग किया गया है। कहा गया है कि बुद्धिमान्, युक्तः, "कृत्स्न कर्मकृत्"। जो लोग यह समझते हैं कि कर्म बुरा है। वह बेकार है। किसी भी रूप में क्यों न हो, वह बंधन में बांधता है, वे कर्म में अकर्म को देख नहीं सकते। वे बुद्धिमान नहीं हैं। मंदबुद्धि हैं।

अकर्म में कर्म को देखना - कुछ लोग वासना रहित होकर, प्रकृति संबंधी गुणों से युक्त होकर, शरीर एवं इंद्रियों से कर्म न करते हुए अकर्मण्य होकर आलसी बनते हैं। उनके अकर्म में, बंधन में बांधनेवाला कर्म निहित है। अवयवों के द्वारा कर्म न करते हु ए भी वे मन से कर्म करते रहते हैं। शरीर एक जगह स्थित रहता है, मगर मन दसों दिशाओं में फिरता रहता है। उनके अकर्म में बंधन में बांधनेवाला कर्म निहित है। इसे जानना ही अकर्म में कर्म को देखना है। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि बंधन सहित तथा बंधन रहित कर्म का निर्णय करनेवाले वास्तव में मन, वासनाएँ तथा अहंकार ही हैं, न कि शरीर इन्द्रियाँ। यदि कर्मेन्द्रियों पर दबाव डाल कर चित्त के द्वारा कर्म करते रहें तो वह मिथ्याचार ही होगा। यह बात पिछले अध्याय में भगवानने कही। स्पष्ट कहा गया कि जो अकर्म में कर्म को देखते हैं वे भी विवेकी हैं। अतः वे भी उत्तम आचरण के द्वारा जीवन लक्ष्य को पासकते हैं।

संसार में जितने भी पंडित, विद्वान एवं कवि वगैरह हैं वे सब बुद्धिमान् कहे नहीं जासकते। सत्य जाननेवाला ही बुद्धिमान है। इसी बात का भगवानने इस श्लोक में कहा है। अतः सदाचरण के द्वारा विवेकी बनना श्रेयोदायाक है।

प्रश्न - मनुष्यों में बुद्धिमान कौन हैं ?

उत्तर - कर्म में अकर्म को और अकर्म में कर्म को जो देख सकता है वह बुद्धिमान है।

प्रश्न - वह कैसा फल पाता है ?

उत्तर - क्रमशः आत्मसाक्षात्कार पाकर वह समस्त कर्मों के आचरण का फल पाता है।

१९. यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

शब्दार्थ - यस्य = जिसका। सर्वे = समस्त। समारम्भाः = कर्म। काम संकल्प वर्जिताः = बिना कामना और संकल्प के होते हैं। ज्ञानाग्निदग्ध कर्माणां = ज्ञान

रूप अग्नि के द्वारा भस्म कर्मवाला। तम् = उसे। पण्डितं = पण्डित। बुधाः = विज्ञ लोग। आहुः = कहते हैं।

भावार्थ - जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।

व्याख्या - इस श्लोक में कहा गया कि पण्डित कौन हैं ? भगवान की दृष्टि में पांडित्य का मतलब केवल सांसारिक विद्याओं में पारंगत होना नहीं है। चित्त की शुद्धि से एवं काम वासनाओं से रहित होकर आत्मज्ञान से विलसित रहना ही पांडित्य है। यहाँ कहा गया है कि जिसके सब कार्य वासना रहित एवं आसक्ति रहित होते हैं, जिसके कर्म ज्ञान की अग्नि में दग्ध होते हैं वही पण्डित है।
"आरम्भाः" न कह कर

"समारम्भाः" कहा गया। इससे स्पष्ट है कि महानुभाव उत्तम कार्य ही करते हैं। 'काम' का अर्थ है भोग संबंधी इच्छा, पत्नी, पुत्र, गृह आदि के प्रति ममता व आशा। संकल्प का अर्थ है अहंकार से भरा संकल्प। क्योंकि संकल्प रहित स्थिति में संकल्प वास्तव में होते ही नहीं। जो लोग कामना एवं आसक्ति रहित होकर निष्काम भाव से कर्म करते हैं वे आत्मज्ञान पाते हैं। वे ही जीवन्मुक्त हैं। वे ही पण्डित हैं। कर्म रुई के ढेर जैसे हैं। कोटि कोटि जन्मों में किये गये कर्म आत्मज्ञान रूपी एक चिनगारी से भस्म होजाते हैं। ऐसे ज्ञान की प्राप्ति के लिए चित्त-शुद्धि आवश्यक है। इसके लिए निष्काम कर्म का आचरण आवश्यक है।

"सर्वे समारम्भाः" कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि सभी कार्य कामना रहित भाव से करना चाहिए। इस श्लोक से यह भी स्पष्ट होता है कि पहले अनजाने में किये गये कर्मों के बारे में मनुष्य को दुःख नहीं करना चाहिए। जैसे भी कर्म हों, उन्हें अब निष्काम भाव से करें तो काफी है। अहंकार एवं कर्तृत्व का भाव त्याज्य है। वास्तव में वही बंधन का मूल कारण है। संकल्प रहित

होकर कर्म करना मोक्ष की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। इस तरह कर्म करनेवाला ही पण्डित है। निष्काम भाव से कर्म करनेवाला शांति पाता है। काम भाव से कर्म करनेवाला अशांति पाता है। काम संकल्पवाला कोई कर्म किये बगैर रहे तो भी वह अशांति पाता है। यही कर्म का रहस्य है।

पण्डित का लक्षण इस श्लोक में बताया गया है। भगवान की परिभाषा के अनुसार पण्डित बनने का प्रयास साधक को करना चाहिए।

प्रश्न - पण्डित कौन है ?

उत्तर - जिसके कर्म कामना रहित होते हैं, जिसके कर्म ज्ञान की अग्नि से जल जाते हैं वही पण्डित है।

प्रश्न - कर्म का आचरण किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर - कामना के बिना, इच्छा से संबंधित संकल्प के बिना कर्म करना चाहिए।

प्रश्न - कर्म किससे भस्म होते है ?

उत्तर - ज्ञान की अग्नि से कर्म भस्म होते हैं।

२०. त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥

शब्दार्थ - कर्मफला सङ्गं = कर्मों और उनके फल की आसक्ति। त्यक्त्वा = छोड कर। नित्य तृप्तः = नित्य तृप्त है। निराश्रयः = आश्रय रहित है। कर्मणि = कर्म में। अभिप्रवृत्तः अपि = बर्तता हुआ भी। सः = वह। किंचित् = कुछ भी। न करोति एव = नहीं करता।

भावार्थ - जो पुरुष समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्यतृप्त है, वह कर्मोंमें भलीभाँति बर्तता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता।

व्याख्या - इस श्लोक में कहा गया कि जो पुरुष कर्मों और उनके, फल की आसक्ति को त्याग कर संसार के आश्रय से रहित हो जाता है और परमात्मा में

तृप्त रहता है, वह कर्म करते हुए भी वास्तव में कुछ नहीं करता। जीवन्मुक्त महापुरुष ऐसा ही बरतते हैं। वे कर्म करते हैं, पर कर्म के फल के प्रति उन्हें आसक्ति नहीं होतीं। फल की अपेक्षा न कर ईश्वर को अर्पित कर वे कर्म करते हैं। वे नित्य तृप्त रहते हैं। सब कुछ वे आत्मा में ही पाते हैं। अतः वे तृप्त रहते हैं। 'नित्य' कहा गया इसका अर्थ है कि किसी एक काल या किसी एक समय में नहीं, सभी कालों और समयों में भी वे तृप्त बने रहते हैं। महापुरुष नश्वर दृश्य पदार्थों के आश्रय में कभी नहीं जाते। शाश्वत आत्मा के वे आश्रय में रहते हैं। इस प्रकार कर्म फल के प्रति आसक्ति का न होना, नित्यतृप्ति और निराश्रय ये तीन विशेषताएँ जिन महानुभावों में होती हैं वे कर्म करते हुए भी कर्म न करनेवाले ही बने रहते हैं। यही कर्म में निहित अकर्तृत्व है। "प्रवृत्तोऽपि" न कह कर "अभिप्रवृत्तोऽपि" कहा गया। इससे ज्ञात होता है कि ज्ञानी महापुरुष कई कार्य अच्छी तरह कर सकते हैं।

प्रश्न - कई कार्य करते हुए भी न करनेवाले कौन हैं ?

उत्तर - (१) जो कर्म फल की आसक्ति छोड देता है।

(२) जो निरंतर तृप्त रहता है।

(३) जो किसी पदार्थ के आश्रय में नहीं जाता वह कार्य करते हुए भी न करनेवाले बने रहते हैं।

२१. निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

शब्दार्थ - निराशीः = आशा रहित। यतचित्तात्मा = इंद्रियोंसहित मन को जीता हुआ। त्यक्तसर्व परिग्रहः = समस्त भोगों की सामग्री का परित्याग किया हुआ। शारीरं केवलं कर्म = शरीर संबंधी कर्म। कुर्वन् = करता हुआ। किल्बिषम् = पाप को। न आप्नोति = नहीं पाता।

भावार्थ - जिसका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीर जीता हुआ है और जिसने समस्त भोगोंकी सामग्रीका परित्याग कर दिया है, ऐसा आशारहित

पुरुष केवल शरीर-सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापको नहीं प्राप्त होता।

व्याख्या - इस श्लोक में तीन सद्गुणों का विश्लेषण किया गया। (१) आशा रहित होना (२) इन्द्रिय और मन को वश में करना (३) किसी भी वस्तु का परिग्रह न करना (वस्तु के प्रति ममता का न होना)। इन तीन सद्गुणों से युक्त मनुष्य केवल उपाधि से जितना भी कर्म करे पाप का भागीदार नहीं बनता। क्यों कि आशा रहित मन बहिर्मुखी न होकर अंतर्मुखी होता है। फिर वह जो भी कर्म करे, फल के प्रति आसक्त नहीं होता। इसी प्रकार इन्द्रिय और मन जिसके वश में रहते हैं वह कर्तुत्वभावना के बिना कर्म करता रहता है। अपरिग्रही का मन किसी भी वस्तु के प्रति ममता नहीं रखता। किसी भी वस्तु पर आसक्त नहीं होता। इसलिए कोई पाप उसे नहीं छूता। यही रहस्य इस श्लोक में बताया गया है।

'त्यक्त सर्व परिग्रहः' - 'सर्व' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि एक दो नहीं समस्त वस्तुओं के प्रति ममता न रखनेवाला व्यक्ति श्रेष्ठ है। क्यों कि वस्तु के प्रति ममता रखें तो उस वस्तु के साथ दूसरों के कर्म को भी स्वीकारना पडता है। उस कर्म को अपनी ज्ञानाग्नि से भस्म कर सकने की शक्ति साधक में न हो तो वह कर्म उसकी साधना में अशांति पैदा करता है। इसीलिए मुमुक्षुओं के लिए अपरिग्रह का नियम शास्त्रों में लागू किया गया।

प्रश्न - कर्म का पाप कौन नहीं पाता ?

उत्तर - (१) आशा रहित मनुष्य (२) इन्द्रिय और मन को वश में करनेवाला (३) दूसरों से कोई भी वस्तु ग्रहण न करनेवाला। ऐसे साधक कर्म के पाप के भागीदार नहीं बनते।

२२. यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्याते ।।

शब्दार्थ - यदृच्छालाभसंतुष्टः = विना इच्छा के अपने आप प्राप्त पदार्थ से संतुष्ट। द्वंद्वातीतः = हर्ष शोक आदि द्वंद्वों के अतीत। विमत्सरः = ईर्ष्या रहित।

सिद्धौ = सिद्धि। असिद्धौच = असिद्धि में। समः = सम रहनेवाला। कृत्वा अपि = कर्म करता हुआ भी। न निबध्यते = नहीं बंधता।

भावार्थ - जो बिना इच्छा के अपने-आप प्राप्त हुए पदार्थमें सदा सन्तुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्याका सर्वथा अभाव हो गया है, जो हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो गया है-ऐसा सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेवाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनसे नहीं बँधता।

व्याख्या - पिछले श्लोक की तरह कर्म करते हुए भी उनसे बंधित न होनेवाले कुछ व्यक्तियों के लक्षणों का उल्लेख इस श्लोक में किया गया। प्राप्त वस्तु से संतुष्ट रहना (२) कार्य सफल हो या न हो, समभाव से रहना (३) द्वंद्वों की परवाह न करना (४) मात्सर्य रहित रहना ये चार गुण और पिछले श्लोक में उल्लिखित तीन गुण मिलाकर सात है, ज्ञान गुण समझे जाते हैं। ज्ञान और कर्म दोनों एक दूसरे के सहायक हैं। निष्काम कर्म के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान की प्राप्ति से निष्काम कर्म का भलीभांति अमल में लाना सुलभ होता है। इसीलिए कर्मयोग (तीसरा अध्याय) के अंत में अखंडज्ञान के बारे में और ज्ञानयोग (चौथे अध्याय) के बीच में कर्माचरण के बारे में बताया गया है। उपर्युक्त ज्ञानगुणों से विलसित मनुष्य निरंतर समस्थिति में रहता है। इसलिए कर्म करते हुए भी उनके प्रति निरासक्त रहता है।भगवान बताते हैं कि ऐसा साधक कर्मों में नहीं बंधता।

प्रश्न - कार्य करने पर भी उनसे कौन नहीं बंधता ?

उत्तर - (१) बिना प्रयत्न के जो मिलता है उससे तृप्त होनेवाला (२) सुख दुःख आदि द्वंद्वों के अतीत व्यक्ति (३) मात्सर्य रहित (४) कार्य की सिद्धि एवं असिद्धि के प्रति समभाव रखनेवाला कार्य करने पर भी उनसें नहीं बंधता।

सम्बन्ध - यहाँ यह प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त प्रकार से किये हुए कर्म बन्धन के हेतु नहीं बनते, इतनी ही बात है या उनका और भी कुछ महत्त्व है।

इसपर कहते हैं -

२३. *गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।*
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

शब्दार्थ - गत सङ्गस्य = आसक्ति (संग) रहित। मुक्तस्य = राग-द्वेष आदि से मुक्त। ज्ञानावस्थितचेतसः = आत्मज्ञान में स्थित स्थिर चित्तवाला। यज्ञाय = भगवान की प्रीति के लिए। आचरतः = कर्म करनेवाले का। कर्म = कार्य। समग्रम् = समस्त। प्रविलीयते = विलीन हो जाते हैं।

भावार्थ - जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, जो देहाभिमान और ममता से रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्मा के ज्ञान में स्थित रहता है - ऐसे केवल यज्ञ सम्पादन के लिए कर्म करनेवाले मनुष्य के सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं।

व्याख्या - "गत सङ्गस्य" संग भाव एवं फलासक्ति से कार्य करने पर वह कर्म मनुष्य को बंधन में बांधता है। बिना संग भाव के, बिना आसक्ति के कर्म करें तो वह कर्म जीव की मुक्ति का साधन बनता है। संसार में करोडों प्राणी हैं। फिर भी इस श्लोक में वर्णित चार सद्लक्षणोंवाले का कर्म ही साधना में साधक को सफल बनाता है। वे सद्लक्षण निम्न प्रकार हैं। (१) फल की आसक्ति या विषयासक्ति का न होना (२) राग द्वेष तथा काम क्रोध आदि से प्रभावित भव बंधनों से छुटकारा पाना (३) आत्मज्ञान में ही स्थित रह कर निरंतर चित्त में स्थिरता पाना (४) भगवान की प्रीति के लिए और परहितार्थ कर्म करना।

"ज्ञानावस्थित चेतसः" - कहा गया कि ज्ञान में सदा स्थिरता प्राप्त चित्तवाले के कर्म नष्ट होते हैं। मतलब है कि ऐसे साधक जितने भी कर्म करें वे ज्ञान के सागर में विलीन हो जाते हैं। अतः इस श्लोक से स्पष्ट होता है कि कर्मराहित्य के लिए ज्ञान अत्यावश्यक है। ऐसे ज्ञान रहित मनुष्य का चित्त दृश्य वस्तु को सत्य मानता है। उसी में लगे रह कर कर्तृत्व आदि से बंधा रहता है।

इसलिए वह कर्म बंधन में बांधता है।

"यज्ञयाचरतः" यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म बन्धनः अर्थात् यज्ञ (देव, धर्म, परहित) को छोड दूसरे लक्ष्य के लिए किये जानेवाले कर्म, बंधन में बांध देते हैं। यह बात भगवानने पहले ही (तीसरे अध्याय में) स्पष्ट कर दी।

'प्रविलीयते' - लीयते या विलीयते न कह कर 'प्रविलीयते कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि उनका कर्म थोडा सा नहीं पूरा नष्ट होजाता है। फिर 'समग्रं' कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि संचित सभी कर्म ज्ञानकुंड में आहुति हो जाते हैं।

साधकों, भक्तों तथा मुमुक्षुओं को ऐसे वाक्यों से ही धीरज बंधता है। क्यों कि हर जीव ऐसा ही कर्मराहित्य चाहता है। इस श्लोक में बताया गया कि ऐसी उच्चस्थिति किस प्रकार प्राप्त होगी। यहाँ स्पष्ट कहा गया कि कुछ न करते हुए निठल्ले बैठे रहना ठीक नहीं।गीता का संदेश यही है कि जितना भी कर्म करें, वह बंधन कारक न बने। इसलिए लोगों का कर्तव्य है कि वे उपर्युक्त चार सद्लक्षणों का अनुष्ठान कर कर्मबंध से विमुक्त होवें।

२४. *ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।*
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

शब्दार्थ - (यज्ञ में) अर्पणम् = होम के साधन। ब्रह्म = ब्रह्म हैं। हविः = होम द्रव्य। ब्रह्म = ब्रह्म हैं। ब्रह्माग्नौ = ब्रह्मरूपी अग्नि में। ब्रह्मणा = ब्रह्मरूप कर्ता के द्वारा। हुतम् = होम किया हुआ (ब्रह्मैव = ब्रह्म है)। ब्रह्मकर्म समाधिना = ब्रह्मकर्म में स्थित कर्ता। तेन = उस के द्वारा। गन्तव्यम् = प्राप्त किया जानेवाला फल भी। ब्रह्म एव = ब्रह्म ही है।

भावार्थ - जिस यज्ञ में अर्पण ब्रह्म है, हवन द्रव्य ब्रह्म है, ब्रह्मरूप कर्ता के द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में आहुति देने की क्रिया भी ब्रह्म है, उस ब्रह्मकर्म में स्थित योगी द्वारा प्राप्त किये जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही है।

व्याख्या - इस संसार में जो कुछ है वह ब्रह्म रूप है। इस बात को हमेशा याद रख कर कर्म करना चाहिए। अर्थात् चित्त में ब्रह्म की भावना हो, दैवी भावना हो और उसी भावना से कर्म करें। तब वह कर्म यज्ञ बन जाएगा।

प्रश्न उठता है कि सारा ब्रह्मरूप कैसे होगा ? इस श्लोक में इस बात का स्पष्टीकरण किया गया। नामरूपात्मक यह जगत् ब्रह्म में मिथ्या के रूपमें आरोपित है। आरोपित वस्तु अधिष्ठान से अलग नहीं रहती। भ्रांति से रज्जु में सर्प रज्जु से भिन्न नहीं होता। रज्जु स्वरूप ही बनता है। इसी प्रकार अज्ञान से यह जगत् ब्रह्म में आरोपित है। आरोपित वस्तु अधिष्ठान से कभी भिन्न नहीं होता। अतः यह जगत् ब्रह्म रूप ही है। जगत् की हर वस्तु और जगत् का हर कार्य ब्रह्मरूप ही हैं।

यहाँ यज्ञ के होम को कर्म के दृष्टांत के रूप में लिया है। द्वापरयुग में यज्ञ याग आदि का बोलबाला था। इसलिए होम कार्य से सभी लोग सुपरिचित थे। यही वजह है कि यहाँ भगवानने उसी को दृष्टांत के रूप में लिया। यद्यपि होम के बारे में कहा गया तथापि सभी कर्मों के बारे में इसी तरह जानना चाहिए। जिस प्रकार होम करनेवाला यजमान, हविस, और अग्नि सब ब्रह्म के स्वरूप हैं उसी प्रकार हर कार्यको करनेवाला, और उससे किया जानेवाला कार्य भी ब्रह्म स्वरूप ही हैं। छांदोग्योपनिषद् में कहा गया कि सर्वंखल्विदं ब्रह्म। इसी तरह समस्त जगत् को ब्रह्म स्वरूप मान कर जो व्यवहार करता है वह धन्यभाग है।

"समाधिना" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि एकाग्रचित्त होकर अर्थात् ब्रह्मभावना हृदय में भर कर कर्म करना चाहिए। तब कर्म कर्म न रह कर ध्यान या समाधि के रूप में बदल जाएगा। यहाँ स्पष्ट बताया गया कि कर्म किस प्रकार ज्ञान बन जाएगा। ब्रह्मभाव से एकाग्रचित्त होकर कर्म करें तो वह कर्म कर्तृत्व रहित होकर ज्ञान व समाधि के रूप में परिणत हो जाएगा।

इस प्रकार सब कुछ ब्रह्ममय समझ कर, उसी भावना से जो कर्म करेगा वह ब्रह्म को पाएगा। इस श्लोक के द्वारा स्पष्ट किया गया कि सामान्य कर्म ब्रह्म

प्राप्ति के प्रयत्न में किस तरह सहायक बनते हैं।

अत· किसी भी कार्य को शुरू करने के पूर्व इस श्लोक का पाठ कर, इसके अर्थ का भी अच्छी तरह मनन करें तो सत्फल मिलेगा। कुछ लोग भोजन करते समय इस श्लोक का पाठ किया करते हैं।

२५. *दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।*
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥

शब्दार्थ - अपरे = कुछ। योगिनः = योगी। दैवम् = देवताओं के पूजन रूप। यज्ञम् एव = यज्ञ का ही। पर्युपासते = अनुष्ठान करते हैं। अपरे = और कुछ। यज्ञेनैव = जीव और ब्रह्म में अभेद स्वरूप भाव से। यज्ञम् = जीव को। ब्रह्माग्नौ = ब्रह्मरूप अग्नि में। उपजुहति = हवन करते हैं।

भावार्थ - दूसरे योगीजन देवताओंके पूजनरूप यज्ञका ही भलीभाँति अनुष्ठान किया करते हैं और अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमें अभेददर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मरूप यज्ञका हवन किया करते हैं।

व्याख्या - २३ वें श्लोक में बताया गया कि यज्ञ के लिए कर्म का आचरण करनेवाले का सारा कर्म विलीन हो जाता है। अब उस यज्ञ के कई प्रकारों का विवरण दिया जा रहा है। (१) कुछ लोग दैवयज्ञ करते हैं। अर्थात् देवता की आराधना, देवता की उपासना, देवता का ध्यान, कैंकर्य तथा देवता की प्रार्थना आदि करते रहते हैं। ये सब कर्मयोगी या भक्तयोगी हैं। (२) और कुछ लोग ब्रह्म और आत्मा की एकता की भावना से चित्त को भर कर उसे ब्रह्म रूपी अग्नि में आहुति कर देते हैं। अग्नि सब कुछ स्वाहा कर अपने में उसे लीन कर लेती है। इसी प्रकार ब्रह्म में सारा दृश्य जगत् लीन है। चित्त (जीव) भी दृश्य जगत् का अंश ही है। अतः जीव और ब्रह्म की एकता की भावना को हृदयंगम् कर उसे ब्रह्म रूपी अग्नि (आत्मा) में होम कर देते । अर्थात् उसमें लीन कर देते हैं। ब्रह्म यज्ञ यही है। इसका आचरण करनेवाल ज्ञानयोगी कहलाते हैं। इस यज्ञ से

(भ्रमर कीट न्याय के अनुसार) ब्रह्म में लीन होते हैं। कोई भी वस्तु जब अग्नि में डाली जाती है तो वह अग्नि बन जाती है। इसी प्रकार ब्रह्म में लगा मन (जीव) ब्रह्मरूप बन जाता है। वही मोक्ष की स्थिति है। आत्मचिंतन तथा विषय की विरक्ति से जब जीव की विषय वासनाएँ और दृश्य संबंधी संस्कार नष्ट हो जाते हैं तब शुद्ध सात्विक चित्त ब्रह्म में विलीन हो जाता है। वही ब्रह्मयज्ञ है।

प्रश्न - कुछ यज्ञों का उल्लेख करो ?

उत्तर - (१) दैवयज्ञ (देवता की आराधना, देवता की उपासना आदि रूप यज्ञ)

(२) ब्रह्मयज्ञ - (चिंतन मनन और पवित्रता से चित्त को ब्रह्म में विलीन करना)

सम्बन्ध - इस प्रकार दैवयज्ञ और अभेददर्शनरूप यज्ञका वर्णन करनेके अनन्तर अब इन्द्रियसंयमरूप यज्ञका और विषयहवनरूप यज्ञका वर्णन करते हैं -

२६. *श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।*
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥

शब्दार्थ - अन्ये = कुछ अन्य। श्रोत्रादीनि = कान आदि। इन्द्रियाणि = इन्द्रियों को। संयमाग्निषु = संयमरूप अग्नियों में। जुह्वति = हवन करते हैं। अन्ये = कुछ अन्य। शब्दादीन = शब्द आदि। विषयान् = विषयों को। इन्द्रियाग्निषु = इन्द्रिय रूप अग्नियों में। जुह्वति = हवन करते हैं।

भावार्थ - अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियों को संयमरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं और दूसरे योगी लोग शब्दादि समस्त विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं।

व्याख्या - यहाँ (१) इन्द्रिय निग्रह तथा (२) शब्दादि विषयों का त्याग, नामक दो यज्ञों का उल्लेख किया गया।

इन्द्रिय निग्रह आध्यात्मिक साधना में बडा महत्व रखता है। मोक्ष तक पहुँचने के लिए यह सोपान जैसा है। इसीलिए इस के बारे में भगवान श्रीकृष्णने दूसरे और तीसरे अध्यायों में अच्छी तरह बताया। भगवानने इन्द्रिय निग्रह को ही प्रथम साधना मान कर उसका स्पष्टीकरण किया। इन्द्रियों को वश में किये बिना जो भी बातें बतायी जाती हैं, वे निरर्थक हैं। इन्द्रियों पर विजय पाकर मौन रहने पर भी संयमी का तेज दिगदिगंत तक व्याप्त होता है। उसके वेदांत प्रवचन का असर समस्त संसार पर पडता है। ऐसा महिमान्वित इन्द्रिय निग्रह यहाँ यज्ञ बताया गया। मोक्ष पाने के लिए मन को वश में करना चाहिए। मन को वश में करने के लिए इन्द्रियों को वश में करना चाहिए। अतः मुमुक्षु के लिए इन्द्रिय निग्रह अत्यंत आवश्यक है। अनेक व्रतों, नियमों तथा संयमों के द्वारा सभी इन्द्रियों को वश में कर लेना चाहिए। संयम रूपी अग्नियों में इन्द्रियों को होम करना है। इन्द्रिय अनेक हैं। इसलिए एक एक को अलग रूप से संयमित करना चाहिए। यही वजह है कि यहाँ 'अग्नियाँ' शब्द का प्रयोग किया गया।

दूसरा यज्ञ है शब्दादि विषयों का निषेधायह भी इन्द्रियों के निग्रह से संबंधित है। आम तौर पर इन्द्रियाँ विषयासक्त होती हैं। इन्द्रियाँ निश्चल रहेंगी तो चित्त की प्रवृत्तियाँ भी नियंत्रण में रहेंगी। जब चित्तवृत्तियाँ नियंत्रणमें रहेंगी तब द्रष्टा बना जीव आत्मा में स्थिर रूप से स्थित रहेगा। वही मोक्ष की स्थिति है।

प्रश्न - और कुछ यज्ञों का विवरण दो।

उत्तर - (१) इन्द्रिय निग्रह (२) विषय त्याग।

२७. सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ।।

शब्दार्थ - अपरे = कुछ दूसरे। सर्वाणि = संपूर्ण। इन्द्रिय कर्माणि = इन्द्रियों की क्रियाओं को। प्राणकर्माणिच = पंच प्राणों की क्रियाओं को। ज्ञान दीपिते =

ज्ञान से दीप्त। आत्मसंयमयोगाग्नौ = आत्मसंयमयोग रूप अग्नि में। जुह्वति = हवन करता हूँ।

भावार्थ - दूसरे योगीजन इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं।

व्याख्या - मोक्ष की प्राप्ति में मन अवरोधक है। वह कई जन्मों के दुःसंस्कारों से प्रभावित है। उसको वश में करने के लिए इन्द्रियों का निरोध एवं प्राणायाम आदि आवश्यक हैं। इन्द्रियों तथा प्राण के वेग को संयमित न करें तो मन को वश में करना, उसे जीतना संभव नहीं है। इसे स्पष्ट करते हुए यहाँ कहा गया कि आत्मसंयमयोग रूपी अग्नि में इन्द्रियों एवं प्राणों की संपूर्ण क्रियाएँ हवन की जाती हैं।

'ज्ञान दीपिते' - इस शब्द पर ज्यादा ध्यान देना आवश्यक है। मन का संयम और मन का निग्रह आत्मज्ञान से प्रकाशित किया जासकता है। तत्वज्ञान की सहायता के बिना वासनाओं का क्षय एवं मन का निग्रह संभव नहीं हैं। इसीलिए यहाँ ज्ञान से वर्धित मनोनिग्रह कहा गया। मनःसंयम रूपी अग्नि के लिए तत्वज्ञान पंखे के समान है। इस पंखे से संयमरूपी अग्नि प्रज्वलितहोती है। इसलिए आत्म संयम अर्थात् मनोनिग्रह चाहनेवालों का कर्तव्य है कि वे तत्वज्ञान की सहायता अवश्य लें। यह जगत् क्या है ? विषय वासनाएँ क्या हैं ? शाश्वत पदार्थ क्या है ? इन प्रश्नों के उत्तर पर मन केन्द्रित हो तो वह नश्वर वस्तुओं की ओर न जाकर शाश्वत आत्मा की ओर ही उन्मुख होगा।

'ज्ञानदीपिते' शब्द से स्पष्ट होता है कि समाधि की स्थिति एवं मन के संयमन की स्थिति शून्य की स्थिति नहीं है। वह तो केवल प्रज्ञामय और ज्ञानवर्धक चिन्मय स्थिति है।

प्रश्न - मन का संयम किससे वर्धित होता है ?

उत्तर - ज्ञान से और तत्व चिंतन से मन का संयम वर्धित होता है।

सम्बन्ध - इस प्रकार समाधियोगके साधनको यज्ञका रूप देकर अब अगले श्लोकमें द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ और स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञका संक्षेपमें वर्णन करते हैं -

२८. द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्याय ज्ञान यज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥

शब्दार्थ - अपरे = कुछ। द्रव्य यज्ञाः = (ईश्वरार्पण बुद्धि से) लोक सेवा में द्रव्य लगानेवाले। (अपरे = कुछ)। तपोयज्ञा = तप यज्ञ को करनेवाले। (अपरे = और कुछ)। योग यज्ञाः = अष्टाङ्गयोगरूप यज्ञ को करनेवाले। तथा = उसी प्रकार। (अपरे = और कुछ)। स्वाध्याय ज्ञानयज्ञाश्च = वेदाध्यायन, वेदार्थज्ञान समुपार्जन संश्रितव्रताः = दृढव्रती हैं।

भावार्थ - और दूसरे कई पुरुष ईश्वर-अर्पण बुद्धिसे लोकसेवामें द्रव्य लगानेवाले हैं, वैसे ही कई पुरुष स्वधर्मपालनरूप तप-यज्ञको करनेवाले हैं और कई अष्टाङ्ग योगरूप यज्ञको करनेवाले हैं और दूसरे अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त यत्नशील पुरुष भगवान् के नाम का जप तथा भगवत्-प्राप्तिविषयक शास्त्रोंका अध्ययनरूप ज्ञानयज्ञके करनेवाले हैं।

व्याख्या - और कुछ यज्ञों का विवरण यहाँ दिया गया।

१. **द्रव्ययज्ञ** - धन, वस्तु आदि का दान सत्पात्रों को देना, सद्विषयों का वितरण एवं विनियोग करना। ये भी यज्ञ के अंतर्गत ही है।
२. **तपोयज्ञ** - व्रत उपवास आदि के द्वारा देहेन्द्रिय एवं मन को तपा कर उन्हें क्रमशः वश में करना। यह भी यज्ञ ही है।
३. **योग यज्ञ** - यम नियम आदि अष्टांगयोग इसके अंतर्गत हैं। यह भी यज्ञ ही है।
४. **स्वाध्याय ज्ञानयज्ञ** - वेदाध्ययन एवं शास्त्र पाठ करना, उसका अर्थ अच्छी तरह जानना और इसका अनुष्ठान करना, यह भी एक यज्ञ ही है।

लोग अपनी रुचि एवं अपने संस्कारों के मुताबिक विभिन्न यज्ञों को पूरा करके अंत में अपने चित्त को शुद्ध करते हैं। मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी बनते हैं। ये सब यती हैं। अर्थात् प्रयत्नशील हैं। मोक्ष एवं ईश्वर के साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करनेवाले सभी यती ही हैं।

"संशित व्रताः" कहा गया। इसका मतलब है दृढव्रती बन कर, कठोर नियमों का पालन करते हुए जन्म जन्मों से मन में जमे विषय वासनाओं को लोग मिटाते हैं। आलसी आदमी इस दिशा में एक कदम भी आगे बढ नहीं सकता। मोक्ष की प्राप्ति के लिए भारी मूल्य चुकाना पडता है। वह त्याग कहलाता है। आरंभ में कष्ट जरूर होता है। उसका सहन कर यती को आगे बढना चाहिए। यहाँ यती का अर्थ सन्यासी नहीं है। उसका अर्थ है प्रयत्नशील। संशितव्रताः कह कर मुमुक्षुओं को चेतावनी दी गयी कि सामान्यव्रतों और नियमों से माया का अंत नहीं होता। दृढता से व्रतानुष्ठान तथा कठिन नियमों का पालन करने से ही माया मिटती है। मजबूत बरगद के वृक्ष को जड से उखाड फेंकना हो तो मामूली अस्त्रों से काम नहीं चलता। उसके लिए कुल्हाडी की आवश्यकता होती है।

२९. अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥

शब्दार्थ - प्राणायाम परायणाः = प्राणायाम तत्पर। अपरे = कुछ। प्राणापानगती = प्राण अपान मार्गों को। रुद्ध्वा = निरोध कर। अपाने = अपानवायु में। प्राणं = प्राणवायु को। तथा = वैसे ही। प्राणे = प्राण वायु में। अपानम् = अपानवायु को। जुह्वति = हवन करते हैं।

भावार्थ - दूसरे कितने ही योगीजन अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायु में अपानवायुको हवन करते हैं -

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि प्राणायाम भी एक यज्ञ है। प्राणायाम अष्टांग

योग के यम नियमों में चौथा है। शरीर को स्वस्थ रखने और मन की चंचलता को दूर करने के लिए प्राणायाम आवश्यक है। यह पूरक, कुंभक एवं रेचक नामक तीन विभागों से युक्त है। इस श्लोक में बताया गया कि अपान में प्राण का होम करना पूरक है। प्राण में अपान का होम करना रेचक है। प्राण एवं अपान का निरोध करना कुंभक है। पूरक, रेचक और कुंभक का अनुष्ठान करते हुए दिव्य मंत्र का चिंतन मानसिक रूप से किया जाता है। प्राणायाम से मन निश्चल रहता है। क्यों कि प्राण एवं मन का सन्निहित संबंध रहता है। प्राण के निरोध से मन का निरोध होता है। मन के निरोध से प्राण का निरोध होता है। अतः साधक को चाहिए कि मन को वश में रखने के लिए वह प्राणायाम को अपनावे। इसका अभ्यास अनुभवियों की सेवा में रह कर करना चाहिए। भगवानने प्राणायाम को यहाँ एक यज्ञ का रूप दिया है।

३०. अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥

शब्दार्थ - अपरे = कुछ। नियताहाराः = नियमित आहार करनेवाले। प्राणान् = प्राण आदि वायुओं को। प्राणेषु = प्राण आदि वायुओं में ही। जुह्वति = हवन करते हैं। एते सर्वे अपि = ये सभी भी। यज्ञविदः = यज्ञों को जाननेवाले। यज्ञक्षपितकल्मषाः = यज्ञों द्वारा पापों का नाश करनेवाले।(होते हैं)।

भावार्थ - अन्य कितने ही नियमित आहार करनेवाले प्राणायामपरायण पुरुष प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन किया करते हैं। ये सभी साधक यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश कर देनेवाले और यज्ञोंको जाननेवाले हैं।

व्याख्या - भगवान श्रीकृष्णने इस श्लोक के साथ यज्ञों का वर्णन समाप्त कर दिया। कुल १२ प्रकार के यज्ञों का भगवानने वर्णन किया। उनमें अंतिम आहार संयम है। यहाँ बताया गया कि आहार संयम भी एक यज्ञ है। कुछ लोग समझते हैं कि आहार तो सामान्य विषय है। परन्तु गीताचार्यने गीता में उसे उचित स्थान

देकर उसका आदर किया। मोक्ष की प्राप्ति के मुख्य साधनों में उसे भी समुचित स्थान दिया। क्यों कि आहार से ही मन का निर्माण होता है। आहार के स्थूल अंश से शरीर और सूक्ष्म अंश से मन का निर्माण होता है। आहार शुद्ध रहे तो मन भी शुद्ध रहेगा। आहार सात्विक हो तो मन भी सात्विक होगा। मांस का भक्षण करनेवाले मनुष्यों तथा जानवरों में क्रूरता दर्शित होती है। क्यों कि मांसाहार रज एवं तमोगुण प्रधान है।

बडे कारखाने में कहीं एक छोटा सा कील ठीक न रहे तो कारखाना बन्द हो जाएगा। रेल की पटरियों में से कोई एक कील ढीला पड जाय तो रेल-गाडी पटरियों से गिर जाएगी। इसीतरह आहार ठीक न रहे तो मोक्ष के लिए किया जानेवाला सारा प्रयास ठप हो जाएगा। आहार शुद्ध रहे तो मन शुद्ध रहेगा। मन शुद्ध रहे तो मोक्ष की प्राप्ति होगी। इसीलिए आहार को भगवानने एक यज्ञ कहा। आहार निम्न प्रकार होना चाहिए। (१) परिमित। (२) सात्विक (३) न्यायार्जित (४) भगवदर्पित (५) नियमित काल तक सेवित।

इस प्रकार अनेक मोक्ष साधनों के बारे में भगवानने यहाँ बताया। उन सभी साधनों को यज्ञ का पावन नाम दिया। यज्ञ के नाम से डरनेवाले लोगों को भगवानने निडर बना दिया। वास्तविक यज्ञ के स्वरूप एवं स्वभाव का वर्णन किया। कहीं भी पशु की हिंसा का उल्लेख नहीं किया। भगवानने स्पष्ट बताया कि उपर्युक्त साधनों के बारे में जाननेवाले, उनका अनुष्ठान करनेवाले सब 'यज्ञविदः' हैं। अर्थात् यज्ञ का तत्व जाननेवाले हैं।

अब प्रश्न उठता है कि इन यज्ञों से क्या प्रयोजन है ? सब से मुख्य प्रयोजन है पापों का विनाश और जन्म जन्मों से संचित मन के मैल एवं सडन से छुटकारा। पाप को दूर करने का एक मात्र साधन यज्ञ रूप पुण्याचरण ही है। कई लोग पूछा करते हैं कि मेरे पाप कैसे दूर होंगे ? उसका उपाय स्वयं भगवानने यहाँ बताया। पाप यदि नष्ट न हो तो चित्त शुद्ध नहीं होगा। चित्त शुद्ध न हो तो आत्मज्ञान का उदय नहीं होगा। आत्मज्ञान का उदय न हो तो मोक्षरूपी परम

शांति प्राप्त नहीं होगी। इसके लिए सब से पहले पाप का अंत होना चाहिए। पाप के अंत के लिए उपर्युक्त १२ यज्ञों को अमल में लाना चाहिए। मुमुक्षु यदि यज्ञों का पालन नहीं कर सकें तो कम से कम एक यज्ञ का ही सही पालन कर सकते हैं। यह अत्यंत आवश्यक है।

प्रश्न - यज्ञों के आचरण से प्रयोजन क्या है ?

उत्तर - पापों का नाश होगा।

प्रश्न - पाप के नाश का क्या उपाय है?

उत्तर - यज्ञ का आचरण तथा सत्कर्म का अनुष्ठान पाप के नाश के उपाय हैं।

सम्बन्ध - इस प्रकार यज्ञ करनेवाले साधकों की प्रशंसा करके अब उन यज्ञों के करने से होनेवाले लाभ और न करने से होनेवाली हानि दिखलाकर भगवान् उपर्युक्त प्रकार से यज्ञ करने की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हैं -

३१. यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥

शब्दार्थ - कुरु सत्तम - कुरुवंश श्रेष्ठ हे अर्जुन! यज्ञशिष्टामृत भुजः = यज्ञ से बचे हुए अमृत का अनुभव करनेवाले। सनातनम् = शाश्वत। ब्रह्म = ब्रह्म को। यान्ति = पाते हैं। अयज्ञस्य = यज्ञ न करने वाले केलिए। अयम = यह। लोकः = लोक। नास्ति = नहीं है। (ऐसी हालत में) अन्यः = परलोक। कुतः = कैसे होगा ?

भावार्थ - हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञ से बचे हुए अमृत का अनुभव करनेवाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं। और यज्ञ न करनेवाले पुरुष के लिए तो यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है?

व्याख्या - भगवान ने अब तक अनेक यज्ञों का उल्लेख किया। उनकी महिमा का वर्णन अब करते हैं। उपर्युक्त सभी यज्ञों, कुछ यज्ञों या एक यज्ञ को पूर्ण रूप

से करके किसी देवकार्य या पारमार्थिक साधना करने के उपरांत जो खाना खाया जाता है वह अमृत तुल्य बन जाता है। इसीलिए यहाँ कहा गया कि जो ऐसा खाना खाते हैं वे 'यान्ति ब्रह्म सनातनम' अर्थात् जनन मरण रहित शाश्वत ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। पिछले श्लोक में कहा गया कि 'यज्ञ क्षपित कल्मषा:' अर्थात् यज्ञ से पाप नष्ट हो जाते हैं। पाप के क्षयसे चित्त निर्मल बनता है। कल्मष रहित बनता है। शुद्धचित्त में अधिष्ठित आत्मा दीप्ति मान होता है। अर्थात् चित्त आत्मा में लीन होता है तो आत्मा शेष रह जाता है। वही सनातन ब्रह्म पद है। इसीलिए कहा गया कि यज्ञ शेष खानेवाले परब्रह्म को पाते हैं। कार्य की महत्ता उसके फल की श्रेष्ठता पर आधारित रहती है। यहाँ यज्ञ कार्य का फल स्वयं ब्रह्म ही हैं। इसलिए यज्ञ की महत्ता का पता लगाया जा सकता है। संसार में बडा श्रम करने पर ही थोडा साधन क्षेत्र या यश मिलते हैं। लेकिन वे क्षण भंगुर हैं। वे शरीर के साथ नष्ट होनेवाले हैं। लेकिन ब्रह्म सनातन है। अमर है। हर जीव का गम्यस्थल वही है। अत: उसे इसी जन्म में प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे प्राप्त करने का उपाय है। भगवत्कार्य, अध्यात्म साधना और परहित उस यज्ञ का स्वरूप है उनका आचरण अत्यंत आवश्यक है।

ऐसे किसी यज्ञ या सत्कार्य को किये बिना भोजन नहीं करना चाहिए। ऐसा दृढ व्रत ही मोक्ष प्राप्ति का साधन बनेगा। ऐसा न करें और भोजन करते रहें तो वह पाप का ही भोजन होगा। भगवानने कहा कि ऐसे जीव को इहलोक तथा परलोक में भी शांति नहीं मिलेगी। उसका घोर पतन होगा। वह अविवेकी होगा। अतः भगवान के संदेश पर विश्वास करके हर जीव को यज्ञ अवश्य करना चाहिए।

"यज्ञ शिष्टाशिनः" - यहाँ कहा गया कि यज्ञ में शेष बचा खाना खानेवाले। प्रश्न उठता है कि भगवान के बताये ज्ञान, इन्द्रियनिग्रह, तप तथा प्राणायाम आदि यज्ञों में अन्न ही नहीं रहता। तब इस पद का अर्थ इस प्रकार बताया जासकता है। यज्ञ के बाद खाया जानेवाला आहार अमृततुल्य है। उसे

खानेवाले पापरहित होते हैं। या यज्ञ के आचरण से प्राप्त होनेवाली अमृतजैसी मनःशांति के सात्विक सुख को ऐसे साधक प्राप्त करते हैं।

प्रश्न - ब्रह्म कैसा है ?

उत्तर - शाश्वत है। नाशरहित है।

प्रश्न - उसे कौन प्राप्त कर सकते हैं ?

उत्तर - यज्ञों (सत्कार्य) को करके शेष बचे अन्न को खानेवाले ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

प्रश्न - यज्ञ न करनेवालों की कैसी दुर्गति होती है ?

उत्तर - उन्हें इहलोक या परलोक में भी सुख प्राप्त नहीं होता।

सम्बन्ध - सोलहवें श्लोक में भगवान् ने यह बात कही थी कि मैं तुम्हें वह कर्मतत्त्व बतलाऊँगा, जिसे जानकर तुम अशुभसे मुक्त हो जाओगे। उस प्रतिज्ञाके अनुसार अठारहवें श्लोकसे यहाँतक उस कर्मतत्त्वका वर्णन करके अब उसका उपसंहार करते हैं -

३२. *एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।*
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥

शब्दार्थ - एवं = इस प्रकार। बहुविधाः = बहुत तरह के। यज्ञाः = यज्ञ। ब्रह्मणःमुखे = वेद में। वितताः = सविस्तार बताये गये हैं। तान् सर्वान् = उन सब को। कर्मजान् = कर्मों द्वारा संपन्न होनेवाले। विद्धि = जान। एवम् = इस प्रकार। ज्ञात्वा = जान कर। विमोक्ष्य से = विमुक्त होगा।

भावार्थ - इसी प्रकार और भी बहुत तरहके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तारसे कहे गये हैं। उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा सम्पन्न होनेवाले जान, इस प्रकार तत्त्वसे जानकर उनके अनुष्ठानद्वारा तू कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जायगा।

व्याख्या - यहाँ भगवान बताते हैं कि उपर्युक्त यज्ञों के अलावा वेदों में बताये

गये यज्ञ और भी हैं। इसलिए किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि थोडे से यज्ञ करने से ही यज्ञों की कतार पूरी हो गयी। वेद परब्रह्म से उत्पन्न कहा गया है। वह ब्रह्म मुख कहा गया है।

"कर्मजान" मन, वाक्, काया तथा इन्द्रियों के प्रयत्नों से ही ये यज्ञ पूरे होते हैं। पुरुष प्रयत्न से ही यह हो रहा है। आलस्य एवं गधों से यह काम नहीं हो सकता। आध्यात्मिक विद्या अनुभूति परक है न कि वाक्परक। 'यज्ञ या मोक्ष अकस्मात् प्राप्त नहीं होते। वे कर्मों तथा स्वप्रयत्न से ही प्राप्त होते हैं।' भगवान ने यहाँ इसी बात का स्पष्टीकरण किया। कहा कि अगर तुम इसे मालूम करोगे तो विमुक्त हो सकते हो। यहाँ 'कर्मजान्' शब्द का प्रयोग कर भगवान ने आलसीपन का खंडन किया। वेदा त के बारे में वाक्पटुता का भी खंडन किया।

'विमोक्ष्यसे' - 'मोक्ष्यसे' न कह कर 'विमोक्ष्यसे' कहा गया। इससे स्पष्ट है कि यज्ञाचरण से ही साधक विमुक्त हो सकता है।

प्रश्न - इन सबयज्ञों का विवरण कहाँ मिलता है ?

उत्तर - वेदों में मिलता है।

प्रश्न - ये कैसे प्राप्त होते हैं ?

उत्तर - देह, इन्द्रिय एवं मन के व्यापारों से ही प्राप्त होते हैं न कि आलसीपन से।

प्रश्न - इस सत्य को जानने से क्या लाभ है ?

उत्तर - मनुष्य प्रयत्न कर यज्ञ पूरा कर विमुक्त बनता है।

प्रश्न - अब तक उल्लिखित यज्ञ कितने हैं ? वे क्या क्या हैं ?

उत्तर - कुल १२ हैं। वे निम्न प्रकार हैं -

श्लोक - २५ (१) दैवयज्ञ (२) ब्रह्मयज्ञ।

श्लोक - २६ (३) इन्द्रिय संयम यज्ञ (४) शब्द आदि विषयों का निरोध यज्ञ।

श्लोक - २७ (५) मनोनिग्रह यज्ञ।

श्लोक - २८ (६) द्रव्ययज्ञ (७) तपोयज्ञ (८) योगयज्ञ (९) स्वाध्याय

यज्ञ (१०) ज्ञानयज्ञ।

श्लोक - १९ (११) प्राणायामयज्ञ।

श्लोक - २० (१२) आहार नियम यज्ञ।

ये सभी यज्ञ जीव के पापों को दूर करते हैं। चित्त को शुद्ध बनाते हैं। मोक्ष की प्राप्ति में योग देते हैं। भगवान यहाँ आदेश देते हैं कि सभी मुमुक्षुओं को मोक्ष की प्राप्ति के लिए इन यज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिए।

सम्बन्ध - भगवान फिर बताते हैं कि इन यज्ञों में सर्वश्रेष्ठ कौन सा है।

३३. श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥

शब्दार्थ - परंतप = हे अर्जुन ! द्रव्य मयात् = द्रव्यमय। यज्ञात् = यज्ञ से। ज्ञानयज्ञः = ज्ञानयज्ञ। श्रेयान् = श्रेष्ठ है। पार्थ = हे अर्जुन ! सर्वं कर्म = संपूर्णकर्म। अखिलम् = नाश रहित। ज्ञाने = ज्ञान में। परिसमाप्तते = समाप्त होते हैं।

भावार्थ - हे परन्तप अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है, तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं।

व्याख्या - ज्ञानयज्ञ के अंतर्गत तत्व चिंतन, तत्व शोधन, आत्मा अनात्मा का परिशीलन, दृक एवं दृश्य का विवेचन, श्रवण, मनन निदिध्यास, इन्द्रियों एवं मन का निग्रह तथा वासना क्षय आदि आते हैं। द्रव्ययज्ञ के अंतर्गत धन, धान्य, और वस्तुओं आदि के द्वारा प्राप्त किये जानेवाले सत्कार्य आदि आते हैं। यहाँ कहा गया कि द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठ है। क्यों कि बाकी सब साधन एवं सभी पारमार्थिक कर्म अंत में उस ज्ञानरूपी लक्ष्य को ही प्राप्त कराते हैं। उनका फल भी ज्ञान के फल ब्रह्मानंद में ही निहित रहता है। इसीलिए बाकी सब यज्ञों से ज्ञानयज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया।

सभी कर्मों की चरमसीमा ज्ञान ही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि बाकी साधन एवं कर्म व्यर्थ हैं। वे जीव के चित्त को शुद्ध बना कर ज्ञान प्राप्ति में

सहायक बनते हैं। कर्म जीव को ज्ञान तक पहुँचाते हैं। फिर समुंदर में मिल जानेवाली नदी की तरह वह ज्ञान में लीन हो जाते हैं। ज्ञाने 'परिसमाप्यते' शब्द का यही अर्थ है। इससे स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार नदियाँ समुंदर के अंतर्भूत रहती हैं उसी प्रकार समस्त कर्म एवं कर्मफल ज्ञान के अंतर्भूत रहते हैं। वे नष्ट नहीं होते। सत्कर्म कभी व्यर्थ नहीं होते। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि कर्म 'अखिलं' अर्थात् नाश रहित है। वे ज्ञान में लीन होते हैं।

अतः सभी साधकों को चाहिए कि वे ज्ञान की प्राप्ति के लिए कर्म आदि को सहायक बनावें। हर साधन, हर मार्ग और हर संप्रदाय का अंतिम लक्ष्य ज्ञानोदय कराना ही है। किसी न किसी समय हर जीव को उस ज्ञान की प्राप्ति करके मोक्ष पाना है। (ज्ञाना देवतु कैवल्यम्)। इस श्लोक में कर्म साधन और ज्ञान साध्य के रूप में बताया गया है। कर्म जीव को ज्ञान-सौध तक से अग्रभाग में स्थित मोक्ष तक पहुँचाता है। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान इत्तिफाक से मिलनेवाला पदार्थ नहीं है। पारमार्थिक कर्म करते करते चित्त शुद्ध होता है। उसके बाद ही ज्ञान की स्थिति होती है। इसलिए सत्कर्म करना मोक्षप्राप्ति के लिए अत्यंत आवश्यक है। निरंतर दैव चिंतन, सत्कर्म आचरण तथा ईश्वर की आराधना करते रहने पर भगवान साधक पर दया करते हैं। उसे ज्ञान प्रदान करते हैं। इससे साधक मुक्ति पाता है। अतः ज्ञान को लक्ष्य बना कर, उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कर्म का आचरण करते रहना चाहिए। परन्तु कारणवश महापुरुष लक्ष्य की प्राप्ति के बाद भी लोक हितार्थ कर्म करते रहते हैं। इस प्रकार इस श्लोक में ज्ञान की श्रेष्ठता एवं कर्म की आवश्यकता दोनों का प्रतिपादन किया गया है।

'सर्वम्' शब्द से समस्त कर्म, साधन तथा ऊपर उल्लिखित सब यज्ञ संचित होते हैं।

प्रश्न - सभी यज्ञों में श्रेष्ठ यज्ञ कौन सा है ?

उत्तर - ज्ञानयज्ञ सर्वश्रेष्ठ है।

प्रश्न - तो क्या बाकी यज्ञ एवं कर्म निरर्थक हैं ?

उत्तर - नहीं। वे निरर्थक नहीं हैं। वे ज्ञानोदय करा कर अंत में ज्ञान में लीन हो जाते हैं। कर्म जीव को ज्ञान तक ले जाकर उसे छोड देते हैं। वहाँ से ज्ञान जीव को मोक्ष तक पहुँचा देता है।

सम्बन्ध - भगवान अब उस ज्ञान को पाने का उपाय बताते हैं।

३४. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

शब्दार्थ - तत् ज्ञानं = उस ज्ञान को। प्रणिपाते = दण्डवत् प्रणाम से। परिप्रश्नेन = प्रश्न करने से। सेवया = सेवा से। विद्धि = जानो। तत्व दर्शिनः = परमतत्व को जाननेवाले। ज्ञानिनः = ज्ञानी। ते = तुझे उपदेक्ष्यन्ति = उपदेश करेंगे।

भावार्थ - उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।

व्याख्या - पिछले श्लोक में बताया गया कि ज्ञान श्रेष्ठ है। अब प्रश्न उठता है कि वह ज्ञान कैसे प्राप्त होगा ? किनसे प्राप्त होगा ? इन प्रश्नों का उत्तर इस श्लोक में दिया गया है।

"तत्वदर्शिः"- तत्वविद् ज्ञानियों से वह ज्ञान मिलेगा। "तत्वदर्शिनः" कहने से स्पष्ट है कि वाक्शूरों से ज्ञान प्राप्त नहीं होता। परमात्म तत्व को अनुभूति के द्वारा जाननेवालों से ही वह प्राप्त होता है। वेदांत के बारे में प्रवचन देनेवाले और शास्त्रों के पारंगत संसार में बहुत हो सकते हैं, परन्तु अनुभूति के द्वारा ईश्वर तत्व को जाननेवाले बहुत कम होते हैं। ऐसे अनुभवी ज्ञानियों के प्रवचन का महत्व जगत् में अधिक होता है। 'दर्शिनः' कहने से ज्ञात होता है कि ईश्वर ग्रन्थस्थ अगोचर पदार्थ नहीं हैं। हर कोई साधना कर उनके

दर्शन कर सकते हैं। परन्तु ईश्वर गाय एवं दीवार की तरह अलग दिखायी नहीं देते। वे तो अपने में ही निहित होकर दर्शन देते हैं। तत्वदर्शी ऐसे महानुभाव लोगों को ज्ञान का बोध कराते हैं। प्रश्न उठता है कि क्या वे महानुभाव सभी को ज्ञान का बोध कराते हैं ? नहीं। इसके लिए तीन शर्तें निश्चित की गयीं। जो उन शर्तों का पालन करते हैं उन्हींको वे ज्ञान का बोध कराते हैं। वे निम्न प्रकार हैं।

(१) "प्रणिपातेन" - (पात= गिरना। निपात = अच्छी तरह गिरना। प्रणिपात = पूरा अच्छीतरह गिरना।) साधक को चाहिए कि वह महान् ज्ञानी को भक्तिपूर्वक, विनम्रता से दंडवत् प्रणाम करे। अपने अहंकार और दर्प को निगल निरहंकारी और विनयी बने। अपने बडप्पन का वह ख्याल न करे। जब तक देहाभिमान रूपी पिशाच हृदय में बैठा रहेगा तब तक गुरु की शिक्षा हृदय में प्रवेश नहीं करती। दंडवत् प्रणाम करने से अहंकार मिट जाता है। अभिमान का त्याग साधक के लिए परम आवश्यक है। पूछा जासकता है कि क्या खडा रह कर प्रणाम करना काफी नहीं है ? नहीं, काफी नहीं है। कहा गया कि अष्टांग, जमीन को छूएँ। इस प्रकार दंडवत् प्रणाम करना ही चाहिए। यह एक बडी साधना है। इस साधना से शरीर में जमी चरबी पिघल जाएगी। वास्तव में महापुरुष कभी नहीं चाहते कि दूसरे लोग उन्हें प्रणाम करें। परन्तु इस क्रिया से प्रकट होगा कि साधक में विनम्रता है कि नहीं। वह उपदेश ग्रहण करने के योग्य है या नहीं। ऐसी परीक्षा के बाद ही ज्ञानी लोग साधक को ज्ञान की शिक्षा देते हैं।

लोक की दृष्टि से कोई बडा हो सकता है। राजा हो सकता है। अधिकारी हो सकता। मगर ईश्वर के यहाँ, गुरु के यहाँ, महिमान्वित तत्वविदों के यहाँ वो सामान्य मनुज ही हैं। पारमार्थिक दृष्टि में लौकिक पदों का कोई मूल्य नहीं रहता। भौतिक संपदाओं को आध्यात्मिक संपदा के आगे सिर झुकाना ही पडेगा। ब्रह्मबल ही वास्तविक बल है। सब को विदित हो कि विश्वामित्र भौतिक रूप से बडा शक्तिशाली था। फिर उसने यह कहते हुए कि धिक्बलं, क्षत्रियबलं,

ब्रह्मतेजोबलं बलम्'' वशिष्ठ महर्षि के आगे दंडवत् प्रणाम किया। इसीलिए बड़े बड़े राजा, महाराजा, और शूर वीर भी कौपीनधारी ज्ञानी महात्माओं के यहाँ हाथ जोड कर जाते हैं, सिर झुका कर उन्हें प्रणाम करते हैं। ज्ञान की शिक्षा पाने को उत्सुक होते हैं। यदि घमंडी बन कर जाते हैं, अपने दर्प का प्रदर्शन करते हैं तो महापुरुष ज्ञान का उपदेश नहीं देते। तब नुकसान किसका होगा ? इसीलिए सभी धर्मवाले, संप्रदायवाले मंदिरों, महात्माओं के यहाँ जाने के पहले जूते एवं पगडी आदि बाहर ही उतार देते हैं। (उन वस्तुओं में अहंकार बढाने के लक्षण होते हैं)

(२) 'परिप्रश्नेन' - प्रश्न न कह कर परिप्रश्न कहा गया। विनम्र वाक्यों से भक्ति भावना के साथ प्रश्न करना ही 'परिप्रश्न' का तात्पर्य है। इसके अनुसार बडों को साष्टांग प्रणाम कर, इसके बाद अपने सन्देहों के बारे में विनम्रता, समय असमय को दृष्टि में रख कर प्रश्न करना चाहिए।

(३) ''सेवया'' - तीसरी शर्त है सेवा संबंधी। बडों की सेवा करके उनकी कृपा का पात्र बनना चाहिए। गुरु सेवा कर गुरुओं की प्रीति का पात्र बनना चाहिए। गुरु की कृपा न हो तो पारमार्थिक तत्व का ज्ञान प्राप्त करना मुश्किल है। इसीलिए शास्त्रों में गुरुसेवा तथा दैव सेवा की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। माया पर जीत पाने के लिए माया पर विजय पानेवाले महात्माओं का सहयोग आवश्यक है।

इस प्रकार (१) साष्टांग प्रणाम (२) परिप्रश्न (३) सेवा नामक तीन विधियों का पालन करें तो गुरु तथा ज्ञानियों की कृपा के पात्र साधक बनेंगे। शिष्य अपना कर्तव्य का पालन न करे तो गुरु से ज्ञान बोध की आशा नहीं की जासकती। गुरु सत्य और नित्य तत्व का ही उपदेश देंगे जिससे शिष्य का जीवन धन्य होगा।

इस श्लोक में बताया गया कि आध्यात्मिक क्षेत्र में आगे बढने के लिए गुरु की सहायता बहुत जरूरी है। यह भी बताया गया कि गुरु के यहाँ शिक्षापाते

हुए गुरुकुल में शिष्य को किस तरह व्यवहार करना चाहिए। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि स्वयं भगवान शिक्षा देते हुए फिर क्यों कहते हैं कि गुरु तथा ज्ञानीजनों की भी शिक्षा प्राप्त करो। इसके उदाहरण हो सकते हैं। (१) भगवानने जो सन्देश दिया उसके बारे ज्ञानी जनों की भी शिक्षा मुमुक्षुप्राप्त करे। (२) गुरु शिष्य के आदर्श संबंध का प्रतिपादन संभव है यहाँ किया गया हो।

प्रश्न - ज्ञान किनसे मिलता है ?

उत्तर - अनुभवी तत्वविदों से ज्ञान मिलता है।

प्रश्न - उन सद्गुरुओं के यहाँ मुमुक्षुओं को किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए ?

उत्तर - (१) साष्टांग प्रणाम करना चाहिए। (२) विनम्रता से समय देखकर प्रश्न करना चाहिए (३) सेवा करनी चाहिए।

३५. ***यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डिव।***
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

शब्दार्थ - पाण्डव = हे अर्जुन ! यत = जिसे। ज्ञात्वा = जान कर। पुनः = फिर से। एवम् = ऐसे। मोहम् = मोह को। न यास्यसि = नहीं पाते। येन = जिससे। भूतानि अशेषेन = समस्त भूतों को। आत्मनि = तुझ में। आदो = वैसे ही। मयि = मुझमें। द्रक्ष्यसि = देख सकते हो। (तत् = वैसे। ज्ञानं = ज्ञान को। विद्धि = जानो)

भावार्थ - जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन ! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।

व्याख्या - ज्ञान की प्राप्ति से दो लाभ होते हैं। (१) तब तक संचित अज्ञान नष्ट होजाएगा (२) समस्त जीवों को अपने में और ईश्वर में देखा जा सकता है। इन दोनों के बारे में विचार करेंगे। (१) गढे में न गिरना आँखें होने का लाभ है। कोई गढे में गिरे तो हमें समझना चाहिए कि उसकी आंखें नहीं हैं। इसी तरह ज्ञान

प्राप्ति का लक्षण है मोह में न पडना। दिखाई देनेवाला आत्मा एक ही सत्य है। ऐसा ज्ञानी फिर दृश्य वस्तुओं के बारे में शोक नहीं करता। मोहित नहीं होता। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया

> *यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्म्यैवाभूद्विजानतः ।*
> *तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥*

आम जब कच्चा रहता है तब खट्टा रहता है। पकने पर मीठा होता है। खट्टापन तब उसका लुप्त होता है। यदि खट्टा लगे तो समझना चाहिएकि वह अभी पूरा पका नहीं। इसी प्रकार अर्जुन अब तक मोह में पडा था। वह समझताथा कि यह मेरा बंधु है। यह मेरा मित्र है। उन्हें मैं कैसे मार सकूँगा ? भगवानने बताया कि ज्ञानप्राप्ति के बाद मोह की यह स्थिति नहीं रहेगी।

आजकल कुछ लोग कहते हैं कि हमें ज्ञान प्राप्त हुआ। परन्तु अक्सर उनके आचरण में विषय वासनाओं की भरमार देखने को मिलती है। भगवान कहते हैं कि ऐसे लोग अभी पूर्ण रूप से ज्ञानी नहीं बने हैं। फिर से मोह न पडना विषय वासनाओं में न फंसना ही ज्ञान का चिह्न है। भगवान के इन वचनों से शुष्क वेदांतियों को गहरा धक्का लगता। ऐसी हालत में उन्हें अपने आचरण को सुधार कर लोक के सामने अपने आदर्श आचरण को प्रस्तुत करना चाहिए। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रीमद्भगवद्गीता में आचरण अथवा अनुष्ठान पर अधिक जोर दिया गया। साधक को चाहिए कि एक एक साधना को वह आचरण में लावे, उसकी सिद्धि की सफलता की जांच पडताल कर ले। यदि अंदर कहीं वासनाएँ बसी हों तो उन्हें निकाल कर बाहर कर देना चाहिए। आत्मज्ञान प्राप्त हो तो हृदय में इन काम आदि दुर्गुणों के लिए मौका नहीं मिलता।

(२) दूसरा विषय प्राप्त - ज्ञान प्राप्त मनुष्य समस्त जीवराशि को अपने में और परमात्मा में देख सकता है। यह चराचर जगत् आत्मा में स्थित है। सांप कहाँ है ? रज्जु में ही सांप है। स्वप्न कहाँ है ? जागृत मनुष्य में ही है। आरोपित वस्तु अधिष्ठान में ही रहती है। अन्यत्र नहीं रहती। अतः अधिष्ठानरूपी आत्मस्वरूप की अनुभूति जो प्राप्त करेगा उसे आरोपित समस्त जग अपने में दिखाई देगा।

और एक विचार के अनुसार यह समस्त ब्रह्मांड मन की कल्पना ही है। वह मन आत्मा में स्थित है। अतः ज्ञानी समस्त जगत् को, जीवराशि को आत्मा में देख सकेगा। इसी सत्य यहाँ बताया गया है।

'अथोमयि'' कहा गया। इसका मतलब है कि अपने में जिस तरह समस्त जवराशि को देखपाता है उसी तरह भगवान में भी देख सकता है। जब वह ज्ञानीबनेगा तब खुद भगवान बनेगा। यह स्थिति अज्ञान के समय नहीं होती। ज्ञान कीप्राप्ति से द्वैत भाव मिट जाता है, अद्वैत भाव व्याप्त होता है। तब गुरु शिष्य था भगवान भक्त में जरा भी अंतर नहीं होता। दोनों में एक रूपता आजाएगी।

यहाँ अर्जुन = X , श्रीकृष्ण = Y , समस्त जीवराशि = Z माना जाय तो -
''द्रष्ट स्यात्मन्य थोमयि'' वाले वाक्य के द्वारा आत्मा को = अपने में समस्त जीवराशि को देख सकता है। इसलिए X = Z होता है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण में समस्त जीवराशि को देख सकता है। इसलिए Y = Z होता है।

अतः - X = Z (अर्जुन = समस्त जीवराशि)

Y = Z (श्रीकृष्ण = समस्त जीवराशि)

इसलिए X = Y (अर्जुन = श्रीकृष्ण) निकलता है।

समस्त जीवराशि दो वस्तुओं में अलग अलग नहीं रहता। इसलिए गणित शास्त्र की दृष्टि से देखें तो उन दोनों को एक होना चाहिए। अतः स्पष्ट है कि ज्ञान की प्राप्ति के बाद जीव स्वयं श्रीकृष्ण भगवान ही बनता है।

इससे मालूम होता है कि ज्ञान कितना महान् है। संसार में ज्यादा मेहनत करने पर थोडा धन, भूमि और अधिकार मिलते हैं। परन्तु थोडा श्रम साधना, इन्द्रिय निग्रह, आत्म विश्लेषण तथा भक्ति भाव से समस्त ब्रह्मांड को जीव पारहा है। खुद भगवान बन रहा है। अतः भगवान श्री कृष्ण के इन वचनों के लिए महानुभावों की सेवा में रह कर इसी जन्म में आत्मज्ञान का अर्जन करना चाहिए।

प्रश्न - ज्ञान की प्राप्ति से क्या प्रयोजन है ?

उत्तर - (१) जीव मोह में फिर से नहीं पडता। (२) तब समस्त जीवराशि को अपने में देख सकता है।

सम्बन्ध - इस प्रकार गुरुजनोंसे तत्त्वज्ञान सीखनेकी विधि और उसका फल बतलाकर अब उसका माहात्म्य बतलाते हैं -

३६. *अपि चेदपि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।*
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥

शब्दार्थ - सर्वेभ्यः पापेभ्यः = सभी पापात्माओं से। (त्वम् = तू) पापकृत्तमः = पापकरनेवाला है। अपिचेत् अपि = तो भी। सर्वम् = संपूर्ण। वृजिनं = पाप को। ज्ञानप्लवेन एव = ज्ञान रूप नौका द्वारा। संतरिष्यसि = तर जाएगा।

भावार्थ - यदि तू अन्य सब पापियों से भी अधिक पाप करनेवाला है; तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जायगा।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि महापापी भी ज्ञान से पाप रहित होकर तर सकता है। इससे ज्ञान की महांन् शक्ति का पता लगता है। इसीलिए भगवानने महापापी को उदाहरण के रूप में लेकर कहा कि वह भी ज्ञान पाकर तर सकता है। (पापकृत, पापकृत्तरः, पापकृत्तमः) 'तम' शब्द के प्रयोग से पाप की तीव्रता का पता लगाता है। इसलिए पापियों को सुधरने का उपाय मिल गया है। अपने पुराने पापों पर वे पश्चात्ताप करें, नये पाप न करें और पाप दूर करने के साधन अमल में ले आवें तो भवसागर से तर सकते हैं। कहा गया कि महापापी भी पापों से बच सकते हैं, तर सकते हैं। इसका मतलब पापियों का समर्थन करना नहीं है। भगवान का उद्देश्य ऐसा नहीं है। उनके कहने का मतलब है कि अब तक उसने जो पाप किया उस पर पश्चात्ताप करें, आज से वह पाप न करे, पुराने पापों को दूर करने के साधन अमल में ले आवे। ज्ञान की महत्ता को प्रकट करना इस श्लोक का लक्ष्य है। समुद्र बडा विशाल होता है। पर छोटी सी नौका के

सहारे उसे पार किया जासकता है। इसी प्रकार पाप के समुद्र को ज्ञान की नाव के द्वारा पार किया जासकता है। 'तरिष्यसि' न कह कर 'संतरिष्यसि' कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान की प्राप्ति से पापी संसार सागर को तर सकता है। वाल्मीकि इसके लिए दृष्टांत हैं।

इस श्लोक से यह भी स्पष्ट होता है कि पापी भी शास्त्र पढ सकता है। वेदांत का स्पर्श कर सकता है। ओंकार को उच्चरित करसकता है। गीता पाठ कर सकता है। इसके विरुद्ध जो कहा गया वह सब गलत है। वास्तव में जिस तरह रोगी के लिए दवा की जरूरत है उसी तरह पापी के लिए ज्ञान की बडी जरूरत है। इसीलिए भगवानने यहाँ संदेश दिया है कि पापात्मा हों या पुण्यात्मा, हर कोई ज्ञान की प्राप्ति कर मुक्ति पा सकते हैं।

'चेत' 'अपि' इन दो प्रत्ययों से स्पष्ट होता है कि अर्जुन पापी नहीं हैं। आगे भी कहा गया कि अर्जुन दैवीगुणों से संपन्न हैं। (मा शुचः संपदं दैवी मभिजातोऽसि, 5-16)

प्रश्न - पाप दूर करने का क्या उपाय है ?

उत्तर - ज्ञान का अर्जन ही इसके लिए उपाय है।

प्रश्न - ज्ञान का प्रभाव कैसा है ?

उत्तर - महापापी भी ज्ञान रूपी नाव के द्वारा पाप समुंदर को पार कर सकता है।

३७. *यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।*
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

शब्दार्थ - अर्जुन = हे अर्जुन ! समिद्धः = भली भांति प्रज्वलित। अग्निः = अग्नि। एधांसि = इंधन को। यथा = जिस प्रकार। भस्मसात् = भस्म करती है। तथा = उसी प्रकार। ज्ञानाग्निः = ज्ञान की अग्नि। सर्व कर्माणि = सम्पूर्ण कर्मों का। भस्मसत् कुरुते = भस्म कर देती है।

भावार्थ - क्योंकि हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको भस्ममय कर देता है, वैसे ही ज्ञान रूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देती है।

व्याख्या - ज्ञान की उपमा अग्नि से देकर उसकी महिमा का यहाँ वर्णन किया गया। दुःख राहित्य जन्मराहित्य से होता है। जन्म राहित्य कर्मराहित्य से होता है। कर्मराहित्य ज्ञान की प्राप्ति से होता है। लकडियों की ढेर को आग भस्म कर सकती है। इसी प्रकार संचित कर्मों को ज्ञान की अग्नि राख कर सकती है। परन्तु ज्वलित वह्नि ही वह काम कर सकती है। मंदाग्नि नहीं कर सकती। इसीलिए 'समिद्धोऽग्निः' कहा गया है। अतः ज्ञान की पूर्णता न हो तो कर्मसंचय समाप्त नहीं हो सकता। 'सर्व कर्माणि' कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि सभी कर्मों एवं कर्मबंधनों को मनुष्य पार कर सकता है। (आत्मा और अनात्मा के विचार से दृश्य पदार्थ को मिथ्या मान कर दृग्रूप आत्मा का अवलंब पाना संक्षेप में ज्ञान है) अतः जो साधक जनन मरण रूपी कर्मफल से बचना चाहता है उसे अवश्य ज्ञान का आश्रय लेना चाहिए। मुंडकोपनिषद् में कहा गया कि ''क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परापरे'' (परमात्मा के दर्शन करनेवाले के सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं)

प्रश्न - कर्मसंचय कैसे दूर होता है ?

उत्तर -ज्ञान से दूर होता है। (जिस तरह जलती हुयी अग्नि लकडियों को भस्म कर देती है उसी तरह ज्ञान सभी कर्मों को भस्म कर देती है।)

प्रश्न - ज्ञान की महिमा का निरूपण करो ?

उत्तर - वह कर्म राशियों का निर्मूलन कर जीव को बंधमुक्त कर सकती है।

३८. न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

शब्दार्थ - इह = इस संसार में। ज्ञानेन = ज्ञान के। सदृशं = सदृश। पवित्रम् = पवित्र। न विद्यते हि = है ही नहीं। तत् = ऐसे ज्ञान को। योग संसिद्धः = योग की सिद्धि पानेवाला। कालेन = कालक्रम में। आत्मनि = आत्मा में। स्वयम् = स्वयं ही। विन्दति = पाता है।

भावार्थ - इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा राद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।

व्याख्या - यहाँ कहा गया है कि इस संसार में अनेक पवित्र चीजें हैं। पर उन सब में महान् ज्ञान ही है। मनुष्य को पुनीत बनानेवाला ज्ञान से बढ कर दूसरा कोई नहीं है। वह जीव के अज्ञानरूपी मैल को धोकर आत्मानुभूति प्राप्त कराता है। मनुष्य के स्थूल शरीर के मैल को दूर करने के लिए साबुन, रीटा, पानी आदि हैं। इसी प्रकार मनुष्य के सूक्ष्म देह में जमे मैल को दूर करने के लिए कर्म, उपासना, ध्यान, योग एवं ज्ञान आदि अनेक साधन हैं। भगवान बताते हैं कि उन सब में ज्ञान ही श्रेष्ठ है।

"स्वयम्" - प्रश्न उठता है कि वह ज्ञान कैसे प्राप्त होगा ? जवाब है अपने ही प्रयत्न से अपना उद्धार करना है। अपनी भूख खुद ही मिटानी है। गुरु, देव एवं बुजुर्ग सहायता मात्र करते हैं। स्वयं को ही चलना है। अपने को ही अनुभव पाना है। स्वप्रयत्न से ही ज्ञान का अर्जन करना चाहिए।

"योग संसिद्धः" - ज्ञान पाने के पहले योग में सिद्ध होना चाहिएं। अर्थात् कर्मयोग में पारंगत होना चाहिए। निष्काम कर्म का अनुष्ठान करते हुए चित्त को शुद्ध बनाना चाहिए। मैल निकलने पर ही कपडे में रंग चढता है। इसी प्रकार निष्कामकर्म तथा साधनचतुष्टय संपदा आदि चित्त शुद्धि के साधनों का प्रयोग करने पर हृदय निर्मल बनता है। तभी उसमें ज्ञान का उदय होता है।

'कालेन' - कालक्रम में (कर्मयोग में सिद्धि पाने पर) ज्ञान का उदय जीव के हृदय में होगा। मोक्ष कब मिलेगा ? ज्ञान का उदय कब होगा ? इन प्रश्नों का उत्तर भगवानने इस श्लोक के द्वारा दिया है। मोक्ष के लिए कोई काल नियम नहीं है। जब चित्त परिपक्व होगा तबवह मिलेगा। साधकों की साधना की तेजी के अनुसार कुछ साधकों को जल्दी, और कुछ साधकों को देर से मिलेगा। इसमें निराश होने की कोई बात नहीं है। उनके प्रयत्नों के अनुसार कालक्रम में

सभी को मोक्ष मिलेगा। परन्तु प्रयत्न को छोडना नहीं चाहिए। कच्चाफल थोडे समय के बाद ही पकता है। इसके लिए समय लगता है। परिणामक्रम में वह पक्व स्थिति तक पहुँचता है। इस बीच उस पेड की जड को पानी देते रहनी आवश्यक है। शिशु को जन्म देने के लिए माता को नौ महीने तक प्रतीक्षा करना पडती है। इसलिए सहनशील होकर निश्चल मन से निष्कामकर्मयोग को आचरण में लाते हुए निर्मल मन से प्रयास करना है। तब भगवान की कृपा से साधक के मन में ज्ञान का उदय होगा।

"कालेन" शब्द का यही विवरण है। इस प्रकार इस श्लोक में बताया गया कि ज्ञान की सर्वश्रेष्ठता क्या है ? वह कब कहाँ कैसे उत्पन्न होगा। अतः मुमुक्षुओं का कर्तव्य है कि वे इस बात को मनन करें, चिंतन करें और उसके अनुसार आचरण कर ज्ञानी बनें। भव सागर के उस पार पहुँचे।

प्रश्न - संसार में सब से पवित्र चीज कौन सी है ?

उत्तर - आत्मज्ञान सर्वश्रेष्ठ है।

प्रश्न - वह (१) कैसे (२) कहाँ (३) कब जीव को प्राप्त होगा ?

उत्तर - (१) कर्मयोग की सिद्धि से (२) अपने में ही (३) कालक्रम में वह प्राप्त होगा।

सम्बन्ध - इस प्रकार तत्त्वज्ञानकी महिमा कहते हुए उसकी प्राप्तिके सांख्ययोग और कर्मयोग-दो उपाय बतलाकर, अब भगवान् उस ज्ञानकी प्राप्तिके पात्रका निरूपण करते हुए उस ज्ञानका फल परम शान्तिकी प्राप्ति बतलाते हैं -

३९. श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

शब्दार्थ - श्रद्धावान् = श्रद्धालु। तत्परः = साधना परायण। संयतेन्द्रियः = जितेन्द्रिय। ज्ञानम् = ज्ञान को। लभते = पाता है। ज्ञानम् = ज्ञान को। लब्ध्वा = पाकर। पराम् = परम श्रेष्ठ। शांतिम् = शांति को। अचिरेण = शीघ्र ही। अधिगच्छति = पाता है।

भावार्थ - जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होते हैं तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके-तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या - यहाँ बताया गया है कि ज्ञान की प्राप्ति के लिए तीन गुण आवश्यक हैं। (१) श्रद्धा (२) निष्ठा (३) इन्द्रिय निग्रह। इनके अभाव में ज्ञान प्राप्त न होगा। (१) **श्रद्धा** - किसी भी कार्य में जब श्रद्धा अधिक होगी तब फल अच्छा निकलेगा। गुरु, देव तथा शास्त्र के प्रति जीव के हृदय में जितनी श्रद्धा होगी, उतने ही परिमाण में वह उसके सत्फल पा सकेगा। अचल विश्वास के साथ साधना शुरू करनी चाहिए। सन्देहों में पड कर साधना शुरू करे तो सत्फल निकलना मुश्किल है। इसीलिए गीता में कई जगहों पर 'श्रद्धा' की आवश्यकता पर जोर दिया गया।

"तत्परः" - दूसरी विशेषता है निष्ठा। हठ, दीक्षा तथा एकाग्रता से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। शरीर, वाक् और मन तीनों को उसी काम पर लग जाना चाहिए। दूसरे कार्यों को स्थगित कर ज्ञान की प्राप्ति की साधना में एकाग्र होकर लग जाना चाहिए। जब चित्त एकाग्र होकर ज्ञान प्राप्ति की साधना में लग जाएगा तब अखंड शक्ति उद्भूत होगी। लक्ष्य तक पहुँचाने में वह सहायक सिद्ध होगी।

"संयतेन्द्रियः" - ज्ञान प्राप्ति के लिए तीसरी आवश्यकता 'इन्द्रिय निग्रह' की है। इन्द्रियों के द्वारा मन बाह्य विषयों की ओर मंडराता रहे तो वह आत्मा को समझ नहीं पाएगा। ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक एकाग्रता वह पा नहीं सकता। इसलिए मन को अंतर्मुखी होना चाहिए। "यतेन्द्रियः" कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि साधारण निग्रह से काम नहीं चलेगा, शक्तिशाली ढंग से इन्द्रियों को वश में लाना आवश्यक है। साधक के प्रबल शत्रु उसकी इन्द्रियाँ हैं। शत्रुओं को काबू में न करें तो (आत्मा) साम्राज्य प्राप्त नहीं होगा। इसीलिए यहाँ कहा गया कि ज्ञान प्राप्ति के लिए इन्द्रियों को संयमित करना अत्यंत आवश्यक है।

अब प्रश्न उठता है कि इतना श्रम करके ज्ञान प्राप्त करने से क्या फल मिलेगा ? परम शांति मिलेगी यही इस प्रश्न का जवाब है। वही मोक्ष स्थिति है। "अचिरेण" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञानोदय के उपरांत मोक्ष फल तुरंत मिल जाएगा। इस श्लोक में भगवानने विश्वशांति का उपाय बताया है। भगवान संदेश देते हैं कि हे जीव ! परमशांति की अपेक्षा करते हो तो आत्मज्ञान प्राप्त करो। संसार के दृश्य पदार्थों से प्राप्त होनेवाली अल्पशांति ही है। वह परमशांति नहीं है। अतः भगवान ने परमशांति का राजमार्ग यहाँ दर्शाया है। सब जीवों को उस मार्ग पर चलने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न - कौन ज्ञान प्राप्त कर सकता है ?

उत्तर - (१) श्रद्धालु (२) निष्ठावान (३) इन्द्रिय निग्रही।

प्रश्न - ज्ञान प्राप्ति का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर - परमशांति।

प्रश्न - शांति पाने का मार्ग क्या है ?

उत्तर - ज्ञान की प्राप्ति ही शांति पाने का मार्ग है।

४०. अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

शब्दार्थ - अज्ञश्च = विवेक हीन। अश्रद्धानश्च = श्रद्धा रहित। संशयात्मा = संशययुक्त। विनश्यति = विनष्ट होता है। संशयात्मा = संशययुक्त मनवाले को। अयम् = यह। लोकः = लोक। नास्ति = नहीं है। परः = पर लोक भी। न = नहीं है। सुखम् = सुख भी नहीं है।

भावार्थ - विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त के लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।

व्याख्या - गुरुवाक्य, शास्त्रवाक्य तथा पारमार्थिक सच्चाइयों पर विश्वास रखनेवाले श्रद्धालु ज्ञान की प्राप्ति से परम शांति पाते हैं। यह बात गत श्लोक में

बतायी गयी। इस श्लोक में बताया गया है कि जिसमें ऐसी श्रद्धा नहीं होती, वह ज्ञानहीन बन कर संसार के कूप में गिर कर नष्ट होता है। (१) अज्ञानी (२) श्रद्धाविहीन (३) संशयात्मा। इन तीनों की स्थिति हीन ही होती है। अज्ञानी परमार्थ संबंधी विषयों की जानकारी के बिना, जानकारी हासिल करने का प्रयास किये बिना, दृश्य संबंधी विषयों को शाश्वत मान कर नष्ट होता है। श्रद्धा विहीन व्यक्ति शास्त्रों पर अविश्वास कर, धर्मच्युत बन कर नष्ट होता है। संशयात्मा हर बात पर सन्देह करते हुए अपने कर्तव्य मार्ग सेच्युत होकर पारमार्थिक साधना किये बिना निठल्ला रह कर नष्ट होता है। "नश्यति" न कह कर "विनश्यति" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि उपर्युक्त तीनों घोर विनाश के वशवर्ती होते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त तीनों के बारे में बता कर फिर भगवान दूसरे पाद में संशयात्मा के बारे में बताते हैं कि वह इहलोक और परलोक में भी शांति नहीं पाता। सन्देह हृदय को चूस कर बेकार बना देता है। अतः मुमुक्षु को शास्त्रों, पारमार्थिक सच्चाइयों तथा गुरुओं के वाक्यों पर विश्वास करके सन्देहों से दूर रह कर आध्यात्मिक पथ पर आगे बढना चाहिए। तब वह मोक्ष प्राप्त कर सकेगा।

प्रश्न - इस संसार में नाशवान् कौन कौन हैं ?

उत्तर - (१) अज्ञानी (२) श्रद्धाविहीन (३) संशयात्मा।

प्रश्न - संशयात्मा की कैसी दुर्गति होगी ?

उत्तर - इहलोक और परलोक में भी उसे मन की शांति नहीं मिलती।

प्रश्न - मुंमुक्षु के कर्तव्य क्या हैं ?

उत्तर - (१) अज्ञान त्याग कर ज्ञान का अर्जन करना चाहिए।
(२) शास्त्र एवं गुरु के वाक्यों पर विश्वास करना चाहिए।
(३) पारमार्थिक सत्यों के प्रति संशय नहीं करना चाहिए।

४१. ***योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।***
आत्मवन्तं न कर्माणि निबन्धन्ति धनञ्जय॥

शब्दार्थ - धनंजय = हे अर्जुन ! योगसंन्यस्तकर्माणं = निष्कामकर्मयोग से कर्मफल त्यागनेवाले। ज्ञान संछिन्न संशयम् = विवेक से समस्य संशयों का नाश करनेवाले। आत्मवन्तम् = आत्मनिष्ठ को। कर्माणि = कर्म। न निबध्नन्ति = नहीं बांधते।

भावार्थ - हे धनंजय ! जिसने कर्मयोगकी विधिसे समस्त कर्मोंका परमात्मामें अर्पण कर दिया है और जिसने विवेकद्वारा समस्त संशयोंका नाश कर दिया है, ऐसे वशमें किये हुए अन्तःकरणवाले पुरुषको कर्म नहीं बाँधते।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि कर्म किनको बांध कर नहीं रखते। बताया गया कि जो कर्मफल को त्याग कर, ज्ञान के द्वारा सभी सन्देहों को दूर कर आत्मा में स्थित होनेवाले ज्ञानी को कर्म बांध नहीं सकते। जो साधक कर्मफल ईश्वर को अर्पित कर संगरहित होकर आत्मा में स्थित रहता है, वह देह संबंधी अहंकार रहित होता है, अतः उसे कर्म बांध नहीं सकते। वह ज्ञानी निरंतर कर्म करता रहे तो भी उसे कर्म बांध नहीं सकते। क्यों कि कर्म करने या न करने में बंध निहित नहीं रहता। फल की आसक्ति, कर्तृत्व की भावना में बंधन निहित पर आत्मनिष्ठ पुरुष के सभी कर्म ज्ञान की अग्नि से दग्ध होते हैं। इसलिए वे ज्ञानी का कुछ नहीं बिगाड सकते।

"ज्ञान संछिन्न संशयम" कहा गया। जब तक ज्ञान का उदय नहीं होता तब तक संशय उसे व्यथित करते रहते हैं प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति के बाद सभी सन्देह निवृत्त हो जाते हैं।

"आत्मवन्तम्" कहा गया। आत्मनिष्ठ एवं ब्रह्म ज्ञानी को अनिष्ट कर्म नहीं कर सकते। संसार में आत्म ज्ञानियों को छोड बाकी सब को कर्म बंधन में बांध देते हैं। अतः सब को आत्मज्ञानी बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न - कर्म किसे नहीं बांधते ?

उत्तर - जो निष्कामकर्मयोग के द्वारा कर्मफल त्याग देते हैं, जो ज्ञान के द्वारा

सन्देहों को निवृत्त कर लेते हैं और जो आत्मनिष्ठ रहते हैं उनका कर्म कुछ नहीं कर सकते।

प्रश्न - कर्मों से बंधन में न पडने के साधन क्या हैं ?

उत्तर - (१) कर्मफल का त्याग (२) ज्ञान प्राप्त कर सन्देंहों का निवारण करना (३) आत्मनिष्ठ होना, ये तीनों कर्मों के बंधन में न पडने के साधन हैं।

सम्बन्ध - इस प्रकार कर्मयोगीकी प्रशंसा करके अब अर्जुनको कर्मयोगमें स्थित होकर युद्ध करनेकी आज्ञा देकर भगवान् इस अध्यायका उपसंहार करते हैं -

४२. ***तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।***
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥

शब्दार्थ - भारत = हे अर्जुन ! तस्मात् = इसलिए। आत्मनः = तेरे। हृत्स्थम् = हृदय में स्थित। अज्ञानसंभूतम् = अज्ञानजनित। एनं संशयम् = इस संशय को। ज्ञानासिना = ज्ञान रूपी खड्ग से। छित्वा = छेदन कर। योगम् = निष्काम कर्म योग को। आत्तिष्ठ = आचरण कर। उत्तिष्ठ = उठ।

भावार्थ - इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! तू हृदयमें स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशयका विवेकज्ञानरूप तलवारद्वारा छेदन करके समत्वरूप कर्मयोगमें स्थित हो जा और युद्धके लिये खड़ा हो जा।

व्याख्या - इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण इस अध्याय में ज्ञान, ज्ञान की महत्ता, और ज्ञानयोग से प्राप्त होनेवाले निष्कामकर्मयोग का बोध करके अंत में अर्जुन को कार्याचंरण के लिए प्रेरित करते हैं। कर्तव्य का बोध करा कर कह रहे हैं कि उठ, कार्यक्षेत्र में कूद पड।

"अज्ञान सम्भूतम्" - संशय, मोह आदि अज्ञान से ही आविर्भूत होते हैं। उन सब की माँ है अज्ञान। वहीं से सम्पूर्ण दुर्गुण, दुर्वासनाएँ, दुष्ट संकल्प और संशय उत्पन्न होते हैं।

"ज्ञानासिना" भगवान कहते हैं कि अज्ञान को भगाने में ज्ञान ही समर्थ

है। बाकी कोई साधन समर्थ नहीं हैं। इसीलिए उसका छेदन करने के लिए ज्ञान रूपी खड्ग का प्रयोग करो। जिस तरह अंधेरे को उजेला दूर करता है उसी तरह अज्ञानरूपी अंधकार का विच्छेद ज्ञानरूपी प्रकाश ही कर सकता है।

'हृत्स्थम्' कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि अनादिकाल से संशय मोह आदि हृदय में पैठे हुए हैं। शत्रु कहीं दूर नहीं है। अति समीप स्थित हृदय में ही है। यह बात जान लेनी चाहिए।

"योग मातिष्ठ" भगवान अर्जुन को बताते हैं किं ज्ञान प्राप्ति के बाद लोकहित के लिए निष्कामकर्मयोग का आचरण करो। वास्तव में ज्ञानी पुरुष कर्म करने या न करने में दिलचस्पी नहीं लेता। लेकिन लोकहित के लिए आम तौर पर निष्कामबुद्धि से कर्म करता ही रहता है। इसीलिए भगवान यहाँ अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन! पहले तुम ज्ञान अर्जित करो। उस ज्ञान के खड्ग से हृदय में स्थित अविद्या की गांठ का विच्छेद कर दो। इसके बाद लोक हितार्थ कर्म करो।

"उत्तिष्ठ"- भगवानने उत्साहवर्धक शब्द का प्रयोग कर कहा कि उठो। आम तौर पर सोनेवालों को जगाने के लिए महापुरुष ऐसे ही शब्दों का प्रयोग कर जगाते हैं। कार्यक्षेत्र में आगे बढाते हैं। भगवानने जिस तरह अर्जुन को प्रोत्साहित कर कर्म के क्षेत्र में आगे बढाया उसी तरह हर व्यक्ति को भगवान श्रीकृष्ण के इन वचनों से प्रेरणा लेनी चाहिए। अपने हृदय में स्थित अविद्या की ग्रन्थि का छेदन कर देना चाहिए। कर्तव्य के पथ पर आगे बढना चाहिए। वास्तव में आत्मज्ञान हीं बंधमुक्ति का उत्तम साधन है। अच्छीतरह जान लेना चाहिए कि आत्मज्ञान की प्राप्ति के बाद ही निष्काम कर्मयोग को अच्छी तरह काम में ला सकते हैं।

प्रश्न - संशय और मोह आदि कहाँ बसते हैं ?

उत्तर - हृदय में बसते हैं।

प्रश्न - वे कहाँ से आविर्भूत होते हैं ?

उत्तर - वे अज्ञान से आविर्भूत होते हैं।

प्रश्न - वह अज्ञान कैसे नष्ट होता है ?

उत्तर - ज्ञानरूपी खड्ग से नष्ट होता है।

प्रश्न - अज्ञान को मिटा लेने के बाद ज्ञानी अकसर क्या करते हैं ?

उत्तर - लोक हित के लिए निष्काम कर्मयोग को आचरण में लाते हैं।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञान योगो नाम चतुर्थोऽध्यायः।

यह उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित, ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र एवं श्रीकृष्णार्जुन संवाद रूपी श्रीमद्भगवद्गीता का ज्ञानयोग शीर्षक चतुर्थ अध्याय है।

ॐ तत् सत्

ॐ

श्री भगवद्गीता

अथ पञ्चमोऽध्यायः

पाँचवाँ अध्याय

कर्म सन्यास योगः

कर्म सन्यास योग

इस अध्याय का शीर्षक -

इस अध्याय का शीर्षक है कर्म सन्यास योग। सन्यास का अर्थ है त्याग। इस अध्याय में बताया गया कि कर्म का त्याग आरंभ में वांछनीय नहीं है। कर्मफल के त्याग का ही रूप है निष्काम कर्मयोग। उसका आचरण करते रहने पर चित्त शुद्ध होगा। तब निर्विषयक आत्मस्थिति में कर्मत्याग संभव होगा। इसलिए साधकों के लिए कर्मसन्यास से कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार चूँकि इस अध्याय में कर्मसन्यास के बारे में विस्तार से बताया गया, अतः इसका शीर्षक रखा गया "कर्म सन्यास योग"। "सन्यास" शब्द सांख्य एवं ज्ञान के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। चूँकि इस अध्याय में कर्मयोग एवं ज्ञानयोग, दोनों के बारे में बताया गया, अतः संभव है कि इस अध्याय का शीर्षक कर्मसन्यास योग रखा गया हो।

इस अध्याय के प्रधान विषय -

१. सांख्य योग और (निष्काम) कर्मयोग के बारे में निर्णय (श्लोक १ से श्लोक ६ तक)
२. सांख्ययोगी एवं कर्मयोगी के लक्षण और उनकी महत्ता -(श्लोक ७ से श्लोक १२ तक)
३. ज्ञानयोग का विवरण -(श्लोक १३ से श्लोक २६ तक)
४. भक्तिसहित ध्यानयोग का वर्णन (श्लोक २७ से श्लोक २९) तक

सम्बन्ध - तीसरे और चौथे अध्यायमें अर्जुनने भगवान्‌के श्रीमुखसे कर्मयोगकी प्रशंसा सुनी और उसके सम्पादनकी प्रेरणा तथा आज्ञा प्राप्त की। साथ ही यह भी सुना कि 'कर्मयोगके द्वारा भगवत्स्वरूपका तत्त्वज्ञान अपने आप ही हो जाता है' (४:३८); चौथे अध्यायके अन्तमें भी उन्हें भगवान्‌के द्वारा कर्मयोगके सम्पादनकी ही आज्ञा मिली। पंरतु बीच-बीचमें उन्होंने भगवान्‌के श्रीमुखसे ही 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः', 'ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति', 'तद्विद्धि प्रणिपातेन' आदि वचनोंद्वारा ज्ञानयोग अर्थात् कर्मसंन्यासकी भी प्रशंसा सुनी। इससे अर्जुन यह निर्णय नहीं कर सके कि इन दोनों में से मेरे लिये कौन-सा साधन श्रेष्ठ है। अतएव अब भगवान्‌के श्रीमुखसे ही उसका निर्णय करानेके उद्देश्यसे अर्जुन उनसे प्रश्न करते हैं -

१. *संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।*
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥

शब्दार्थ - अर्जुन उवाच = अर्जुन बोले। कृष्ण = हे कृष्ण ! कर्मणाम् = कर्मों के। सन्यासम् = परित्याग। पुनः = फिर से। योगं च = (कर्म) योग की। शंससि = प्रशंसा कररहे हो। एतयोः = इन दोनों में। यत् = कौन सा। श्रेयः = श्रेयस्कर है। सुनिश्चितम् तत् एकम् = अच्छी तरह निश्चित एक के बारे में। मेब्रूहि = मुझसे बताओ।

भावार्थ - अर्जुन बोले - हे कृष्ण ! आप कर्मोंके संन्यासकी और फिर कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं। इसलिये इन दोनोंमेंसे जो एक मेरे लिये भलीभाँति निश्चित कल्याणकारक साधन हो, उसको कहिये।

व्याख्या - वास्तव में भगवान श्रीकृष्ण ने कर्मों को त्यागने के लिए कभी नहीं कहा। कर्मफल की अपेक्षा न करने को कहा। इसलिए यहाँ कर्म सन्यास का अर्थ कर्म त्यागमूलक ज्ञान ही है। अतः अर्जुनने पूछा कि ज्ञानयोग एवं कर्मयोग में कौन सा योग श्रेष्ठ है ? यह प्रश्न समुचित है। क्यों कि

श्रीकृष्ण भगवानने कई वाक्यों द्वारा अर्जुन को कर्मयोग का पालन करने के लिए स्पष्ट रूप से कहा। वे वाक्य निम्न प्रकार हैं -

कार्यं कर्म समाचर (३-१९)

युद्धस्व विगतज्वरः (३-३०)

कुरु कर्मैव तस्मात्वं (४-१५)

योग मातिष्ठोत्तिष्ठ भारत (४-४२)

परन्तु साथ ही साथ कुछ वाक्यों द्वारा फिर कहा कि ज्ञानयोग श्रेष्ठ है। उसका पालन करो। वे वाक्य निम्न प्रकार हैं।

१. श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ (४-३३)

२. तद्विद्धि प्राणिपातेन (४-३४)

इससे अर्जुन को सन्देह हुआ कि इन दोनों में से किस योग का पालन करना चाहिए ? तीसरे अध्याय के आरंभ में भी अर्जुन को इसी प्रकार का सन्देह हुआ था।

सम्बन्ध - अब भगवान् अर्जुनके इस प्रश्नका उत्तर देते हैं -

२. ***संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।***
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥

शब्दार्थ - श्री भगवानुवाच = श्री भगवान बोले। सन्यासः = कर्मत्याग। कर्मयोगः च = कर्मयोग भी। उभौ = दोनों। निश्रेयशकरौ = मोक्ष प्राप्त करानेवाले हैं। तयोः तु = उनदोनों में भी। कर्मसन्यासात् = कर्म त्याग से। कर्मयोगः = कर्मयोग ही। विशिष्यते = श्रेष्ठ है।

भावार्थ - श्रीभगवान् बोले - कर्मसंन्यास और कर्मयोग - ये दोनों ही परम कल्याणके करनेवाले हैं, परंतु उन दोनोंमें भी कर्मसंन्यास से कर्मयोग साधनमें सुगम होनेसे श्रेष्ठ है।

व्याख्या - कर्मसन्यासमूलक ज्ञानयोग और कर्माचरण मूलक निष्काम कर्मयोग दोनों श्रेयोदायक हैं। दोनों मोक्षदायक हैं। ले किन आरंभ में साधकों केलिए कर्मत्याग से कर्मयोग ही उत्तम और सुलभ है। अर्जुन को निर्विषयक ज्ञान की प्राप्ति अभी नहीं हुयी, इसे जान कर ही भगवान श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा होगा। संसार में ज्ञानियों से अज्ञानियों की संख्या अधिक है। उन्हें दृष्टि में रख कर ही भगवानने लगता है कि कर्म सन्यास को प्रोत्साहित नहीं किया। इससे हर कोई निर्विषयकस्थिति पाने के पूर्व ही स्वस्थ बन कर भक्ति और मुक्ति दोनों से दूर होंगे। उन सामान्य जनों के श्रेय को दृष्टि में रख कर ही लगता है कि भगवानने कर्मयोग की विशेषता को प्रस्तुत किया।

प्रश्न - कर्मसन्यास मूलक ज्ञानयोग श्रेष्ठ है या कर्माचरण मूलक निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ है ?

उत्तर - दोनों श्रेष्ठ हैं। दोनों मुक्तिदायक हैं। परन्तु साधकों के लिए प्रारंभिक स्थिति में कर्माचरण ही श्रेयोदायाक है।

सम्बन्ध - सांख्यायोगकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाया। अब उसी बातको सिद्ध करनेके लिये अगले श्लोकमें कर्मयोगीकी प्रशंसा करते हैं -

३. ***ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।***
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ।।

शब्दार्थ - महाबाहो = बडे बाहुवाले हे अर्जुन ! यः = जो। न द्वेष्टि = द्वेष नहीं करेगा। न काङ्क्षति = कामना नहीं करेगा। सः = वह। नित्यसन्यासी = हमेशा सन्यासी ही है। ज्ञेयः = जानेजाने के योग्य है। हि = क्यों कि। निर्द्वन्द्वरिः = द्वंद्वरहित। सुखं = सुलभता से। बन्धात् = बंधन से। प्रमुच्यते = छोडा जाता है।

भावार्थ - हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है, क्योंकि

राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित पुरुष सुखपूर्वक संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

व्याख्या - यहाँ स्पष्ट किया गया कि सन्यास का मतलब रागद्वेष और सुख-दुःख आदि द्वंद्वों को त्यागना है न कि कर्मों को त्यागना। जो राग द्वेष को त्याग देगा वही 'नित्य सन्यासी' होगा। बाकी सब 'अनित्य सन्यासी' ही हैं। सन्यासी कई श्रेणियों के होते हैं। उनमें यहाँ दो श्रेणियों के सन्यासियों का ही उल्लेख किया गया है। (१) नित्य सन्यासी (२) अनित्य सन्यासी। जो रागद्वेष रहित हैं और द्वंद्वों से विमुक्त हैं वे नित्य सन्यासी हैं। जो सन्यासी का वेष धारण कर अंतःकरण में राग द्वेष, काम क्रोध आदि द्वंद्वों से युक्त हैं वे अनित्य सन्यासी हैं। राग द्वेष आदि को त्यागना ही सच्चा सन्यास है। ऐसा व्यक्ति गृहस्थ होने पर भी सच्चा सन्यासी ही है। केवल सन्यासी का वेष मात्र धारण करनेवाला धूर्त है। पतित है।

"सुखं बन्धात्" - संसारिक बन्धन मजबूत है। उसकी गांठ काफी शक्तिशाली है। कई जन्मों से उसके बंधन में मनुष्य बंधाहुआ है। उससे छूटना मुश्किल है। भगवान कहते हैं कि इतना शक्तिशाली होने पर भी कुछ मुमुक्षु उस बंधन को तोड कर मुक्त होते हैं। इसीलिए सुखं (सुलभता) शब्द का प्रयोग किया गया है। कई लोग पूछा करते हैं कि क्या सांसारिक बंधन से छूटने का कोई सुलभ उपाय है ? उसका समाधान भगवानने यहाँ दिया है। रागद्वेष छोड देना ही सुलभ उपाय है। ऐसा मनुष्य गृहस्थ होने पर भी या कर्मों का आचरण न करने पर भी सदा सन्यासी (नित्य सन्यासी) रहेगा। भगवानने कहा कि अंतःकरण के दोषों को त्याग देना ही सच्चा सन्यास है। इससे कपटी सन्यासियों का खेल समाप्त हो जाता है। अतः मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे सच्चे सन्यासी बनें, और सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जावें।

प्रश्न - "नित्य सन्यासी" कौन हैं ?

उत्तर - (१) जो किसी से द्वेष नहीं करता (२) जो किसी की कामना नहीं करता (३) जो सुख दुःख आदि द्वंद्वों से दूर रहता है वह नित्य सन्यासी है।

प्रश्न - ऐसे सन्यास का फल क्या है ?

उत्तर - मनुष्य सांसारिक बंधनों से छूट सकता है।

प्रश्न - सांसारिक बंधनों से छूटने का सुलभ उपाय क्या है ?

उत्तर - राग द्वेष को अंतःकरण से दूर करना और द्वंद्वों को दूर भगा देना ही सुलभ उपाय है।

४. *सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।*
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥

शब्दार्थ - सांख्ययोगौ = ज्ञान योग एवं कर्मयोग। पृथक = अलग अलग। बालाः = अविवेकी। प्रवदन्ति = कहते हैं। पण्डिताः = विवेकी। न (प्रवदन्ति) = ऐसा नहीं कहते। उभयोः = उन दोनों में। एकम् अपि = किसी एक को भी। सम्यक् = अच्छी तरह। आस्थितः = आचरण करनेवाला। फलम् =दोनों के फल को। विंन्दते = पाते हैं।

भावार्थ - उपर्युक्त संन्यास और कर्मयोगको मूर्खलोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाले कहते हैं न कि पण्डितजन, क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमत्माको प्राप्त होता है।

व्याख्या - यहाँ पण्डित का अर्थ है पारमार्थिक अनुभव रखनेवाले ज्ञानी न कि काव्यालंकार आदि का पांडित्य रखनेवाले। भगवानने यहाँ कहा कि ज्ञानयोग और कर्मयोग के फल को अलग माननेवाले (बालाः) बच्चे हैं, बडे नहीं। क्यों कि हर योग का अनुष्ठान करने पर वह आत्म साक्षात्कार रूपी मोक्ष ही प्राप्त कराता है। कुछ उत्तम अधिकारी अपने संस्कारों के अनुसार आत्मविचार रूपी ज्ञानयोग का अवलंबन कर अपने स्वरूप को जान कर मोक्ष पाते हैं और कुछ साधक अपनी प्रवृत्ति के अनुसार निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान कर, सभी कर्मों को ईश्वरार्पण कर फल की अपेक्षा न करके मोक्ष पाते हैं। इस तरह दोनों में अहंभाव नहीं रहता। जीव की भावना

नहीं रहती जब जीव का तत्व नष्ट होता है तब शिवतत्व ही बचता है। इसलिए सांख्य (ज्ञान) योग और कर्म योग दोनों में से किसी एक में स्थिरता हो तो मोक्ष मिल जाता है।

'सम्यक्' - किसी भी योग में अचंचल स्थिति पाने पर मोक्ष मिलेगा। अस्थिर स्थिति से मोक्ष नहीं मिलेगा। इसी भाव को बताने के लिए 'सम्यक' शब्द का प्रयोग किया गया।

उत्तमज्ञानी लोकहित के लिए कर्म करते रहते हैं। उत्तम कर्मयोगी स्वार्थरहित होकर अंतरंग में भगवत्स्वरूप को भरलेते हैं। अतः पक्व स्थिति में ज्ञानयोग एवं कर्मयोग दोनों एक समान रहते हैं। एक ही फल प्राप्त कराते हैं। दोनों का लक्ष्य चित्त का ईश्वर में लीन होना है। ज्ञानयोग और कर्मयोग को जो अलग अलग मानते हैं वे बच्चे ही हैं।

विशाल हृदयवाले किसी मार्ग की निन्दा नहीं करते सभी मार्गों को स्वीकार करते हैं। सभी मार्ग केन्द्र को ही जाते हैं। ज्ञान और कर्ममार्ग एक ही मोक्ष की ओर मनुष्य को ले जाते हैं। भगवानने कहा कि ज्ञान तथा कर्म दोनों में से किसी भी योग में स्थिरता पासकें तो मोक्ष मिलेगा दोनों का फल एक ही है। इस तरह सब मार्गों का समन्वय इस श्लोक में किया गया है। नदियाँ अंत में जिस प्रकार समुंदर में मिलती हैं, उसी प्रकार ज्ञान, कर्म, ध्यान तथा भक्ति योग सब आत्मसाक्षात्कार की ओर साधक को अग्रसर कराते हैं।

प्रश्न - क्या ज्ञानयोग और कर्मयोग अलग अलग हैं ?

उत्तर - यद्यपि अलग हैं पर सही ढंग से आचरण करें,तो दोनों मोक्ष रूपी फल प्रदान कराते हैं।

प्रश्न - मोक्ष प्राप्ति के लिए उपाय क्या है ?

उत्तर - ज्ञानयोग या कर्मयोग दोनों में से किसी का अंत तक अच्छी तरह अनुष्ठान करना ही उसका उपाय है। तब दोनों के फल के रूप में स्वरूप मोक्ष प्राप्त होगा।

५. *यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।*
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।

शब्दार्थ - सांख्यैः = निष्ठावान ज्ञानियों से । यत् स्थानम् = जो स्थान । प्राप्यते = पाया जाता है । तत् = वह । योगैः अपि = कर्मयोगियों से । गम्यते = पाया जाता है । सांख्यं च = ज्ञानयोग को । योगं च = कर्मयोग को । एकम् = एक के रूप में । यः = जो । पश्यति = देखता है । सः = वही । पश्यति = यथार्थ देखता है ।

भावार्थ - ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है । इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है ।

व्याख्या - पिछले श्लोक का भाव ही इस श्लोक में फिर से स्पष्ट किया गया। ज्ञानयोग एवं कर्मयोग दोनों एक ही फल प्राप्त कराते हैं । जो यह बात जान सकते हैं वे परमार्थ के जानकार हैं । वे ही यथार्थ को देखते हैं । बाकी लोग आंखों के होते हुए भी यथार्थ देख नहीं पाते । नेत्रों का परमार्थ सत्य को देखना है । यथार्थ को देख सकना ही विवेक का चिह्न है । इसलिए अविवेक को छोड कर अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि चाहे ज्ञानयोग हो या कर्मयोग, दोनों मोक्ष रूप एक ही फल प्रदान करते हैं । ज्ञानयोगी यह न समझें कि हम श्रेष्ठ हैं । कर्मयोगी यह न समझें कि हम अल्प हैं । दोनों योगी दोनों योगों को समान मान कर अपने अपने मार्ग का अनुसरण कर मोक्ष प्राप्त करें; यही सम्यक् रीति है । साधन भिन्न हों, परन्तु साध्य एक है, इस बात को अच्छी तरह जान लेना चाहिए यही मनुष्य की प्रज्ञा है । अमेरिका जाने के लिए पूरब की ओर यात्रा करे या पश्चिम की ओर, गम्य स्थल पहुँच ही जाएंगे ।

प्रश्न - संसार में यथार्थ को देख सकनेवाला कौन है ? (विवेकी कौन है ?)

उत्तर - ज्ञानयोग तथा कर्मयोग दोनों को एक रूप में देख सकनेवाला ही यथार्थ को देख सकता है। (वही विवेकी है)

सम्बन्ध - सांख्ययोग और कर्मयोगके फलकी एकता बतलाकर अब कर्मयोगकी साधनविषयक विशेषताको स्पष्ट करते हैं -

६. *संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।*
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥

शब्दार्थ - महाबाहो = बडी बाहुओंवाले हे अर्जुन। सन्यासःतु = ज्ञानयोग हो तो। अयोगतः = कर्मयोग के बिना। आप्तुम् = पाने के लिए। दुःखम् = कष्ट तर। योग युक्तः = कर्मयोग से युक्त। मुनिः = मननशील। सचिरेणु =जल्दी। ब्रह्म = ब्रह्म को। अधिगच्छति = पाता है।

भावार्थ - परंतु हे अर्जुन ! कर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या - भगवान बताते हैं कि कर्मयोग की सहायता के बिना ज्ञान की निष्ठा पाना मुश्किल है। कर्मयोग के पारखी बनने पर ज्ञान योग का बोध आसानी से होता है। सभी कर्मों को त्याग कर केवल दृग्रूपी आत्मा में स्थिर रहना साधारण बात नहीं है। वैसी ज्ञानस्थिति सब को जल्दी प्राप्त नहीं होती। इसके लिए परिशुद्ध चित्त से कडी साधना करनी पडती है। निष्कामकर्मयोग का पालन करना पडता है। कर्मयोग प्रारंभिक शिक्षा जैसा है। ज्ञानयोग उच्चशिक्षा जैसा है। इसलिए पहले जो लोग कर्मयोग के पारखी नहीं बनते वे ज्ञान का अनुभव अच्छी तरह नहीं पा सकते। इसलिए भगवान कहते हैं कि पहले कर्म सन्यास शुरू मत करो । कर्मयोग का आचरण कर परिशुद्ध चित्त से ज्ञान का अर्जन करें तो शीघ्र ही मोक्ष पासकते

हैं। 'नचिरेण' कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि ऐसे लोगों के लिए ब्रह्म की प्राप्ति में विलंब नहीं होता। वे शीघ्र लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं।
''मुनिः'' का अर्थ मननशील बताया गया। इससे ज्ञात होता है कि कर्मयोग के साथ भगवत्स्वरूप का मनन भी आवश्यक है। ऐसा करनेवाला मुमुक्षु शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

आरंभ में निष्काम कर्मयोग का अनुभव अभ्यास के द्वारा पाना चाहिए। चित्त को शुद्ध करना चाहिए। ऐसा न करके एक दम ज्ञानयोग एवं कर्मयोग को अमल में लावें तो साधना में कठिनाइयाँ होंगी। क्यों कि कर्मसन्यास, ज्ञान निष्ठा दोनों की प्राप्ति वासनारहित स्थिति में होती है। जब तक हृदय में वासनाएँ रहेंगी, जब तक पाप एवं मैलापन् दिल पर प्रभाव डाले रहेंगे तब तक ज्ञान का आविर्भाव नहीं होगा। जल्दबाजी में बाह्य सन्यास को अपनावें तो भी चंचल मन साधक को भटकाता ही रहेगा। साधना के लिए पहले चित्त शुद्धि और पाप राहित्य आवश्यक हैं। भगवान कहते हैं तब कर्मयोग बडा सहयोगी सिद्ध होगा। पहले बुनियाद को सुदृढ बनाना है। कर्मयोग ही बुनियाद है। बुनियाद के निर्माण के बिना भवन खडा करेंगे तो सारा श्रम व्यर्थ हो जाएगा। पहले कर्मयोग का अभ्यास करना अत्यंत आवश्यक है। वेदांत का यही रहस्य है। इसे समझे बिना जो एक दम ज्ञानयोग को अमल में लाते हैं वे असफल होते हैं। कर्मयोग एवं ज्ञानयोग दोनों में असफल होते हैं। इसीलिए भगवानने इस श्लोक के द्वारा स्पष्ट सूचित किया कि किस प्रकार साधक को इस दिशा में आगे बढना चाहिए।

रोगी की चिकित्सा करने के पहले उसे मल विसर्जन की गोली देते हैं। इससे पेट साफ होता है। तब दवा देने से वह अच्छी तरह काम करती है। इसी प्रकार निष्काम कर्मयोग के द्वारा चित्त को धोदें तो ज्ञान रूपी दवा अच्छी तरह काम करती है। इस श्लोक में कहा गया कि कर्मयोग रूपी चित्तशुद्धि की क्रिया का अवलंबन सब को लेना चाहिए।

प्रश्न - ज्ञानयोग की प्राप्ति कब होगी ?

उत्तर - कर्मयोग में सफलता प्राप्त करने पर।

प्रश्न - ब्रह्म को शीघ्र कौन पासकता है ?

उत्तर - कर्मयोग का अवलंबन जो मुनि व मननशील लेता है वह ब्रह्म को शीघ्र पासकता है।

सम्बन्ध - अब उपर्युक्त कर्मयोगीके लक्षणों का वर्णन करते हुए उसके कर्मों में लिप्त न होनेकी बात कहते हैं -

७. ***योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।***
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

शब्दार्थ - योगयुक्तः = कर्मयोग का आचरण करनेवाला। परिशुद्धात्मा = परिशुद्ध हृदयवाला। विजितात्मा = व्रिजित मन वाला। जितेन्द्रियः = इन्द्रियों को जीतनेवाला। सर्वभूतात्मा भूतात्मा = समस्त प्राणियों की आत्मा तथा अपनी आत्मा में एकरूपता देखनेवाला। कुर्वन अपि = कर्म करते हुए भी। न लिप्यते = कर्मबंध में नहीं बंधता।

भावार्थ - जिसका मन अपने वश में है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरणवाला है और संपूर्णप्राणियों का आत्मरूप परमात्मा ही जिसकी आत्मा है, ऐसा साधक कर्म करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता।

व्याख्या - कर्म करते हुए जो उनमें लिप्त होना नहीं चाहता उसे पांच लक्षणों से युक्त होना चाहिए। (१) निष्काम कर्म का आचरण (२) निर्मल हृदय (३) मन पर विजय (४) इन्द्रियों पर विजय (५) सब जगह एक आत्मा के दर्शन। इन पांच लक्षणोंवाले मनुष्य कर्म करते हुए भी उनमें नहीं बंधते। इसके विरुद्ध काम करनेवाले आसक्त मनुष्य कर्म बंधन में बंधते हैं।

अंतःकरण जब विषयवासनाओं और दुर्गुणों से भरारहता है तब जीव के कर्म मलिन होते हैं। इसलिए वह कर्मों से बद्ध रहता है। जब वह

नहीं समझ सकता कि सभी प्राणी अपनी आत्मा के ही प्रतिरूप हैं तब वह उनका अपकार करने पर उतारू हो जाता है। सब से द्वेष करता है। दूसरों पर प्रेम, करुणा एवं दया की भावना नहीं दिखाता। उसके कर्म दोषपूर्ण होते हैं। इसलिए वह कर्म बंध से छूट नहीं सकता। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण इस श्लोक द्वारा बताते हैं कि कर्म बंध से छूटने के लिए सर्व भूतों के साथ एकात्मता अत्यंत आवश्यक है। वैसे ही इन्द्रिय एवं मन को वश में रखना, उन्हें संयमित रखना भी कर्मबंध से छूटने के लिए आवश्यक है। इस प्रकार ऊपर उल्लिखित पांच लक्षणों से युक्त होकर कर्मों का आचरण किया जाय तो जीव उनसे नहीं बंधता। निर्लिप्त होकर कर्मबंध से छूटता है। अतः मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे उपर्युक्त सद्गुणों का आश्रय अवश्य लें और अपने जीवन को धन्य बनावें।

प्रश्न - कर्मों का आचरण करते हुए भी उनसे न बंधनेवाला मनुष्य कौन है ?

उत्तर - (१) जो निष्काम भावना से कर्म करता है।
(२) जो निर्मल हृदय से रहता है।
(३) जो इन्द्रियों पर विजय पाता है।
(४) जो मन पर विजय पाता है।
(५) जो सब प्राणियों में अपनी आत्मा का दर्शन करता है, वह कर्म करते हुए भी उनके बंधन में नहीं बंधता।

८. *नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।*
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥

९. *प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।*
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते इति धारयन्॥

शब्दार्थ - तत्ववित् = परमार्थ तत्व जाननेवाला। युक्तः = योग युक्त। पश्यन् = देखते रहने पर भी। श्रुण्वन् = सुनते रहने पर भी। स्पृशन् = स्पर्श

करते रहने पर भी। जिघ्रन = सूंघते रहने पर भी। आश्नन् = खाते रहने पर भी। गच्छन्न = चलते रहने पर भी। स्वपन् = सोते रहने पर भी। श्वमन् = सांस लेते रहने पर भी। प्रलपन् = बोलते रहने पर भी। विसृजन = त्यागते रहने पर भी। गृह्णन् = ग्रहण करते रहने पर भी। उन्मिषन् निमिषन अपि = आखें खोलते मूंदते रहने पर भी। इन्द्रियाणि = इन्द्रियाँ। इन्द्रियार्थेषु = विषयों में। वर्तन्ते+इति = बरत रही हैं। धारयन = (ऐसा) निर्णय कर। किंचित् = कुछ भी। न एव करोमि इति = मैं नहीं कररहा हूँ। मन्येत = समझता है।

भावार्थ - तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं- इस प्रकार समझकर निःसन्देह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।

व्याख्या - आत्मा, देह एवं इन्द्रियों से परे है। साक्षी के रूप में वह उन उन चित्त वृत्तियों का निरीक्षण करता रहता है। इसलिए वह किसी भी कार्य का कर्ता नहीं है। अविद्या के दोष के कारण जीव अपने स्वरूप को भूल कर देह और इन्द्रियों से तादात्म्य स्थापित कर दुःख भोगता है। परन्तु ज्ञानी पुरुष आत्मा के स्वरूप को पहचान कर सोच लेता है कि इन्द्रियाँ उनसे संबंधित कार्यों और संबंधित अंशों में संचारित हैं, अतः वह केवल साक्षी मात्र है, वह कुछ नहीं कर रहा है। इस तत्व के बोध से वह निर्लिप्त एवं निर्विकार रहता है। इससे इन्द्रिय जनित विकारों तथा प्रभावों से दूर रह कर सहज आनन्द पाता है। परन्तु कुछ ऐसे भी शुष्क वेदान्ती हैं जो आत्मज्ञान रहित, अविद्या के वशीभूत, विषय वासनाओं से प्रभावित होकर इन्द्रिय संबंधी भोग विलासों का अनुभव करते हुए कहते रहते हैं कि मैं केवल उनका साक्षी मात्र हूँ। इसीलिए भगवानने ऐसे लोगों को दृष्टि में रख कर ही इस

अध्याय के सातवें श्लोक में ज्ञानी के लिए आवश्यक पांच लक्षणों का उल्लेख किया। एक तरफ दृश्य वस्तुओं के साथ तादात्म्य स्थापित कर, दूसरी तरफ यह कहना कि मैं केवल साक्षी मात्र हूँ, अनर्गल प्रलाप ही है। सच्चे आत्मज्ञानी की इन्द्रियाँ दुर्विषयों में लीन नहीं होती। क्योंकि तमोगुण से रजोगुण, रजोगुण से सत्व गुण तथा सत्वगुण से विशुद्ध सत्वगुण की ओर उन्मुख तत्वविद् कभी भी भोग विलासों एवं विषय वासनाओं में लिप्त नहीं होता। मथनी से मथने के बाद जो मक्खन निकलता है वह फिर छाछ में नहीं डूबता। इसी प्रकार संसार सागर को ज्ञान रूपी मथनी से मथ कर परमात्मा रूपी मक्खन को बाहर निकाल कर उसके आनन्द का भोग करनेवाला तत्वविद् फिर भवसागर में नहीं डूबता। जागृत तत्वविद् फिर स्वप्न सौंदर्य में रत नहीं होता।

अविद्या, अज्ञान एवं अविवेक से छूट कर आत्मा के साथ तादाम्य स्थापित करनेवाला महानुभाव कर्म करते हुए भी उनसे नहीं बंधता। उनकी इन्द्रियाँ विषय वासनाओं के परे रहती हैं। ऐसी इन्द्रियों और शारीरिक क्रियाओं के द्वारा वे लोकहित संबंधी कार्य ही नहीं बल्कि देह की यात्रा के उपयुक्त काम भी करते रहते हैं। परन्तु उनसे वे बद्ध नहीं होते।

इसलिए सब से पहले मुमुक्षु को निष्कामकर्म, भक्ति, ध्यान आदि साधना के द्वारा अपने चित्त को परिशुद्ध कर लेना चाहिए। आत्मतत्व के पारखी बनना चाहिए। तब वह कर्म करे या न करे, उनसे बद्ध नहीं होता। तब उसका मन भुना हुआ बीज सा रहता है। विषयवासनाओं से दूर रहता है। क्रियाओं का केवल साक्षी बना रहता है। तब उसकी इन्द्रियों धर्मबद्ध कार्य ही करती हैं। किसी की क्रियाएँ धर्म विरुद्ध होती हैं तो समझना चाहिए कि वह अभी तत्वविद् नहीं बना। उसकी आध्यात्मिक साधना कच्ची है। अतः मुमुक्षु को चाहिए कि पहले भगवान के द्वारा सूचित पांच सद्लक्षणों से अपने को संवारे और तत्वविद् बने। तभी वह इस जगन्नाटक का और देह

एवं इन्द्रियों के व्यवहार का निरीक्षण साक्षी के रूप में कर सकने की शक्ति पासकता है।

प्रश्न - तत्वज्ञानी इन्द्रियों के द्वारा खाना पीना आदि कार्य यद्यपि करता रहता है तथापि उसकी भावना कैसी होती है ?

उत्तर - उसकी भावना होती है कि मैं कुछ भी नहीं कररहा हूँ। वे इन्द्रियाँ ही कार्य कररही हैं। मैं मात्र साक्षी हूँ। निर्विकार आत्मा हूँ।

सम्बन्ध - इस प्रकार सांख्ययोगीके साधनका स्वरूप बतलाकर अब दसवें और ग्यारहवें श्लोकोंमें कर्मयोगियोंके साधनका फलसहित स्वरूप बतलाते हैं -

१०. ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।

शब्दार्थ - यः = जो। कर्माणि = कर्मों को। ब्रह्मणि = परमात्मा में। अधाय = **समर्पित** कर। संगम् = फल की अपेक्षा को। त्यक्त्वा = छोड कर। करोति = करता है। सः = वह। अंभसा = जल में। पद्मपत्रं इव = पद्मपत्र की तरह। पापेन = पाप से। न लिप्यते = लिप्त नहीं होता।

भावार्थ - जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिको त्याग कर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता।

व्याख्या - अपने सब कार्यों को परमात्मा में अर्पित कर अहंकार, कर्तृत्व की भावना तथा आसक्ति संबंधी बुद्धि से रहित होकर जो मुमुक्षु बर्ताव करता है उसे पाप तथा कर्मजनित बंध छू तक नहीं सकते। इस सत्य को जताने के लिए यहाँ कमलपत्र को भगवानने उदाहरण के रूप में लिया है। पद्मपत्र जल में ही रहता है। पर वह जल पद्मपत्र को छू नहीं सकता। उस पर जल की बूंदें पडती भी हैं तो तुरंत झर जाती हैं। इसी प्रकार जो मुमुक्षु कई

कर्म करते हुए भी उनके प्रति संग भावना, आसक्ति एवं कर्तृत्व की भावना से रहित होते हैं वे कर्मों से नहीं बंधते। इसीलिए ऐसे महानुभाव खुद तरते हैं और दूसरों को भी तरने का मार्ग दिखाते हैं। कर्मयोग का यही रहस्य है।

फल की अपेक्षा के बिना, ईश्वरार्पण की भावना से कर्म करें तो कर्ता उनसे नहीं बंधता। वास्तव में संग की भावना ही बंध का मुख्य कारण है। पद्मपत्र को छोड बाकी सभी पत्ते जल का स्पर्श करते हैं। इसी प्रकार जो कर्तृत्व की भावना से कार्य करते हैं वे कर्म के बंधन में बंधते हैं। इसलिए बंधन राहित्य के लिए अनासक्त होकर निष्काम भावना से, ईश्वर को अर्पित कर कर्म करना चाहिए।

यहाँ "पापेन" शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ "कर्मबन्ध से" लेना उचित होगा।

प्रश्न - कर्म करने पर भी किन्हें पाप छू नहीं सकते ?

उत्तर - (१) जो मनुष्य अपने कार्यों को ईश्वर में अर्पित करते हैं (२) जो मनुष्य आसक्ति त्याग कर कर्म करते हैं उन्हें पाप नहीं छूते।

प्रश्न - कैसे ?

उत्तर - जिस प्रकार पद्मपत्र को जल नहीं छूता वैसे।

११. कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्तु सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥

शब्दार्थ - योगिनः = योगी। आत्मशुद्धये = चित्तशुद्धि के लिए। सङ्गं = फलासक्ति को। त्यक्त्वा = त्याग कर। कायेन = शरीर से। मनसा = मन से। बुद्ध्या = बुद्धि से। केवलैः = खाली (ममता और अभिमान रहित)। इन्द्रियैः अपि = इन्द्रियों से। कर्म = कर्म। कुर्वन्ति = करते हैं।

भावार्थ - कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं।

व्याख्या - कहा गया कि निष्कामकर्म के आचरण से चित्त शुद्धि होगी। योगी चित्तशुद्धि के लिए शरीर, मन एवं बुद्धि से, इच्छा एवं द्वेष रहित इन्द्रियों से संग एवं फलासक्ति रहित होकर कर्म करते हैं। ममता, अभिमान तथा राग द्वेष रहित इन्द्रियाँ केवलेन्द्रिय कहलाती हैं। ऐसे कल्मषरहित इन्द्रियों से वे काम करते हैं। यह "केवल" शब्द का देह, मन एवं बुद्धि के लिए उपयोग कर उसका अर्थ कहा जासकता है। मतलब यह कि योगी अभिमान रहित होकर कर्म करते रहते हैं। इस प्रकार संग रहित होकर कर्म का आचरण करने से चित्त निर्मल बन जाता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक ज्ञानोदय के लिए मन की निर्मलता बहुत जरूरी है। क्यों कि मलिन चित्त में ज्ञान का उदय नहीं होता। यहाँ बताया गया कि इसीलिए योगी चित्त को निर्मल बनाने के लिए अनासक्त होकर कर्म किया करते हैं। ज्ञान प्राप्ति के बाद भी महापुरुष केवलेन्द्रियों के द्वारा अपनी जीवनयात्रा चलाते हैं। लोकहित के लिए कार्य करते हैं। अतः मुमुक्षु को चाहिए कि वह फल की आसक्ति के बिना अभिमान रहित होकर अपने शरीर एवं इन्द्रियों के द्वारा कर्म करते हुए चित्त को शुद्ध करे। फिर ज्ञान पाकर भवबंधनों से मुक्त होवे।

प्रश्न - चित्त की शुद्धि कैसे होगी ?

उत्तर - फल की आसक्ति त्यागनी चाहिए। अभिमान रहित होकर देह एवं इन्द्रियों के द्वारा कार्य करना चाहिए। जो ऐसा करते हैं उनके चित्त की शुद्धि होगी।

प्रश्न - निष्कामकर्म करनेवाले योगी कर्म का आचरण कैसे करते हैं ?

उत्तर - (१) संग (फल की आसक्ति) त्याग कर (२) ममता आदि से रहित इन्द्रियों तथा शरीर से कर्म करते हैं।

प्रश्न - ऐसा करने से कौन सा फल मिलेगा ?

उत्तर - "चित्त की शुद्धि" का फल मिलता है।

१२. *युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।*
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निवध्यते ॥

शब्दार्थ - युक्तः = योगयुक्त । कर्मफलम = कर्मों के फल को । त्यक्त्वा = छोड कर । नैष्ठिकीम् = आत्मनिष्ठा संबंधी शाश्वत । शान्तिम = शान्ति । आप्नोति = पाता है । आयुक्तः = जो योगयुक्त नहीं है । काम कारेण = आशा की प्रेरणा से । फले = कर्मफल में । सक्तः = आसक्त होकर । निबध्यते = बांधा जाता है ।

भावार्थ - कर्मयोगी कर्मों के फल का त्याग करके भगवत्प्रतिरूप शान्ति को प्राप्त होता है और सकामपुरुष कामना की प्रेरणा से फल में आसक्त होकर बंधता है ।

व्याख्या - इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया कि बंधन का कारण आशा है और मोक्ष का कारण आशाराहित्य है । फल की अपेक्षा किये बिना जो कर्म करता है उसका चित्त निर्मल होता है । शाश्वत शान्ति पाता है । इससे पता चलता है कि कर्मयोग एवं ज्ञानयोग दोनों आत्मशान्तिरूपी एक ही फल प्रदान करते हैं । यह भी स्पष्ट किया गया कि कर्मयोग कम प्रभावशाली नहीं है । उसका फल निष्ठावान परम शान्ति की प्राप्ति ही है । फल के प्रति आसक्ति ही बंधन का मूलकारण है । इसीलिए 'बध्यते' न कह कर "निबध्यते" कहा गया । इससे स्पष्ट होता है कि फल की अपेक्षा करनेवाला सांसारिक बंधन में बंधता है । इसलिए साधकों को इस बारे में बहुत सतर्क रहना चाहिए । सभी काम ईश्वर को अर्पित कर निष्काम भावना से करना चाहिए । तभी उसे स्थाई शान्ति प्राप्त होती है ।

भगवान इस श्लोक में शान्ति के उपाय पर भी प्रकाश डालते हैं । हर प्राणी शान्ति और सुख चाहता है । मगर उसके उपाय मालूम न होने के कारण परेशान है । यहाँ बताया गया कि फल की अपेक्षा छोड कर निष्काम

भावना से कर्मों का आचरण करना ही शान्ति का उपाय है। भगवान यह भी बताते हैं कि सांसारिक बंधन के कारण है। आशा, फल की कामना एवं सांगत्य ही दुःख और अशांति के कारण हैं। इसलिए उन्हें पास आने ही नहीं देना चाहिए। अतः मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे भगवान के उपदेश पर ध्यान दें और जीवन को निष्काम मार्ग पर चला कर परम शान्ति का अनुभव करें।

प्रश्न - निष्कामकर्म का योगी कैसा फल पाता है ? क्यों ?

उत्तर - आत्मनिष्ठा से परमशान्ति पाता है। फल की अपेक्षा न करने के कारण वह परमशान्ति पाता है।

प्रश्न - कामना से कर्म करनेवाला कैसा फल पाता है ?

उत्तर - कामना से काम करने के कारण सांसारिक बंधन में बंधता है।

प्रश्न - बंधनमुक्ति का साधन क्या है ?

उत्तर - कर्मफल के प्रति अनासक्त रहना ही बंध मुक्ति का साधन है।

१३. सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥

शब्दार्थ - वशी = इन्द्रिय निग्रही। देह = देहधारी। मानसा = मन से। सर्वकर्माणि = समस्त कर्मों को। सन्यस्य = त्याग कर। न एव कुर्वन् = कुछ भी न करनेवाला। न कारयन = न करानेवाला बन। नवद्वारे = नौ द्वारोंवाले। पुरे = नगररूपी शरीर में। सुखम् = सुख से। आस्ते = रहता है।

भावार्थ - अन्तःकरण जिसके वशमें है, ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नवद्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है।

व्याख्या - जीवन को आनन्दमय बनाने का मार्ग यहाँ बताया गया। पहले

मनुष्य को इन्द्रिय निग्रह पर ध्यान देना चाहिए। 'वशी' का अर्थ यही है। इन्द्रिय वश में न हों तो सारा श्रम व्यर्थ हो जाता है। इन्द्रियों को वश में करने पर ही परम सुख प्राप्त होता है। इसलिए जो साधक परम सुख प्राप्त करना चाहता है, उसे सब से पहले अपने मन को वश में करना चाहिए। यह तभी संभव है जब कि इन्द्रियाँ उसके वश में हों। संयमी मनुष्य कर्मफल त्याग-कर इस देह रूपी नगर में निश्चिंत रहता है। जब कर्म फल के प्रति आसक्ति नहीं रहती तब कर्म करने पर भी साधक उनके बंधन में नहीं बंधता। यहाँ 'मनसा' कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि निष्कामकर्मयोगी यद्यपि शरीर से कर्म करता है तथापि कर्मफल को त्यागने के कारण वह मन से भी कर्म परित्याग एवं कर्मसन्यास की स्थिति पाता है। भगवान कहते हैं कि शरीर से कर्मत्याग करना बडी बात नहीं है, मन से कर्मत्याग करना ही महान् कार्य है, मन से कर्मफल की अपेक्षा न करना और कर्मफल के प्रति अनासक्त रहना ही मानसिक रूप से कर्म सन्यास है। 'सर्व कर्माणि' कहा गया है। यदि निष्कामबुद्धि से जितने भी कर्म करें वे मन से भी करने के बराबर ही हैं। यहाँ बताया गया कि जो इन्द्रियों और मन को वश में करके कर्मफल की आसक्ति छोड कर कर्म करते हैं, वे नौ द्वारों वाले इस शरीररूपी नगर में तटस्थ ही रहेंगे। वे कोई कार्य नकरते हुए, न कराते हुए भी साक्षी के रूप में रहकर आत्मानंद पाते हैं।

इसका और एक अर्थ भी बताया जाता है। वह इस प्रकार है। ''इन्द्रियनिग्रही योगी आत्मा में स्थित होकर मन सहित दृश्यरूप समस्त कार्य छोड कर खुद कुछ न करते हुए, न कराते हुए साक्षी के रूप में इस देहरूपी शहर में सुख से रहते हैं।'' और एक अर्थ इस प्रकार है - मन से सभी कार्य (दृश्य रूप) देहरूपी शहर के लिए छोड कर स्वयं निश्चिंत होकर आत्मा में स्थित रहते हैं।

इस श्लोक से स्पष्ट होता है कि जो सुखी बनना चाहते हैं उन्हें दो

साधनों का उपयोग करना चाहिए (१) इन्द्रिय निग्रह तथा मन पर विजय (२) सभी कर्मों के फल का त्याग। ''नौद्वार'' निम्न प्रकार हैं -

नेत्रद्वार २ + श्रोत्रेंद्रिय द्वार २ + नासिकाद्वार २ + मुंहद्वार १ + मूत्रद्वार १ + मलद्वार १ = ९ ।

(स्पर्शद्वार शरीर भर में व्याप्त रहता है। उससे भी मिलावें तो कुल द्वार १० हैं)

पुराने जमाने में नगरों के द्वार होते थे। उस नगर में राजा निवास करता था। द्वार सुरक्षित रहें तो राजा भी सुरक्षित रहता था। इस शरीर का राजा जीव है। इस शरीर के नौद्वार हैं। इन्द्रियों को राजा वश में रख सके तो सुखी रह सकता है। नहीं तो वह हमेशा अशांत ही रहेगा।

प्रश्न - मनुष्य को सुख कैसे प्राप्त होगा ?

उत्तर - (१) इन्द्रियों को वश में कर ले और सभी कर्मों और उनके फलों को मन से त्याग दे तो साधक को सुख प्राप्त होगा।

प्रश्न - कर्मों का त्याग शरीर से करना चाहिए या मन से ?

उत्तर - शरीर से नहीं मन से कर्मों का त्याग करना चाहिए।

सम्बन्ध - जबकि आत्मा वास्तवमें कर्म करनेवाला भी नहीं है और इन्द्रियादिसे करवानेवाला भी नहीं है, तो फिर सब मनुष्य अपनेको कर्मोंका कर्ता क्यों मानते हैं और वे कर्मफलके भागी क्यों होते हैं -

१४. न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

शब्दार्थ - प्रभुः = भगवान। लोकस्य = लोक को। कर्तृत्वम् = कर्तृत्व। न सृजति = सृजन नहीं करते। कर्माणि कर्मों को। न = (सृजन) नहीं करते। कर्मफल संयोगम् = कर्मफल के संबंध को। न सृजति = सृजन नहीं करते। स्वभावः तु = प्रकृति ही। प्रवर्तते = बरतरही है।

भावार्थ - परमेश्वर मनुष्योंके न तो कर्तापनकी, न कर्मोंकी और न कर्मफलके संयोगकी ही रचना करते हैं; किंतु स्वभाव ही बर्त रहा है।

व्याख्या - सिरजनहारेने जीवराशि में से किसी के लिए भी कर्तृत्व आदि का सृजन नहीं किया। प्रकृतिजन्य जन्मांतर संस्कारों के अनुसार वे कर्म करते हैं। उन कर्मों का फल भोगते हैं। जो बीज बोते हैं उसी का फल वे पाते हैं। आम का बीज बोते हैं तो मीठा फल पाते हैं। रीटे का बीज बोते हैं तो कडुआफल पाते हैं। यदि संस्कार पापमय हों तो दुष्कर्म करके दुःख भोगते हैं, यदि पुण्यमय हों तो सत्कर्म करके सुख भोगते हैं। लोगों को चाहिए कि अपने पापमय संस्कारों को, अपने पुण्यमय सत्कर्मों के द्वारा रोक लें। यह कार्य सतताभ्यास से हो सकता है। इसलिए किसी को कर्मदोष समझ कर दुःखी नहीं होना चाहिए। पुरुषप्रयत्न करके सन्मार्ग पर अग्रसर होना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि अपने उद्धार और पतन के लिए जिम्मेवार जीव ही है। इस बारे में दूसरे किसी का कुछ भी संबंध नहीं है। सब से उत्कृष्ट मानव जन्म है। इसे पाकर आत्मोद्धार के लिए उसका सदुपयोग करना हर मनुष्य और साधक का कर्तव्य है। वही उन्नति का सही मार्ग है।

प्रश्न - जीवों के उन उन कर्मों के साथ ईश्वर का कितना संबंध है ?

उत्तर - जीवों के कर्मों के साथ ईश्वर का कुछ भी संबंध नहीं है।

प्रश्न - फिर जीव को वे कैसे प्राप्त होते हैं ?

उत्तर - प्रकृति की वजह से (जन्मांतर संस्कारों की वजह से) वे प्राप्त होते हैं।

सम्बन्ध - जो साधक समस्त कर्मोंको और कर्मफलोंको भगवान्‌के अर्पण करके कर्मफलसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते हैं, उनके शुभाशुभ कर्मोंके फलके भागी क्या भगवान् होते हैं ? इस जिज्ञासापर कहते हैं -

१५. नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

शब्दार्थ - विभुः = भगवान। कस्यचित् = किसी के। पापम् = पाप को। न आदत्ते = स्वीकार नहीं करता। सुकृतम् च एव = पुण्य को भी। न = स्वीकार नहीं करता। अज्ञानेन = अज्ञान से। ज्ञानम् = ज्ञान। आवृतम् = आवृत है। तेन = इसलिए। जन्तवः = प्राणी। मुह्यन्ति = मोहित होते हैं।

भावार्थ - सर्वव्यापी परमेश्वर भी न किसीके पापकर्मको और न किसीके शुभकर्मको ही ग्रहण करता है; किन्तु अज्ञानके द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, उसीसे सब अज्ञानी मनुष्य मोहित हो रहे हैं।

व्याख्या - किसी के पुण्य या पाप से ईश्वर का संबंध नहीं रहता। पुण्य पाप या उनके फल को वह स्वीकार नहीं करता। वह तटस्थ रहता है। साक्षी के रूप में रह कर जीवों के पाप पुण्यों को देखता रहता है। भगवानने दूसरे चरण में बताया कि जीव किन कारणों से मोह जाल में फंसे हुए हैं।

हर प्राणी सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा ही है। आत्मा दृश्यवस्तु नहीं है। परन्तु वह सत्य, अज्ञान के कारण नीचे दबा हुआ है। जीव की समझ में वह नहीं आता। अपने दिव्य रूप आत्मा को भूल कर देहादि को सब कुछ मानरहा है। फलस्वरूप जनन मरण रूपी सांसारिक उलझनों में उलझ कर दुःख पारहा है। परन्तु यह बंधन शाश्वत नहीं है। जिस समय साधक आत्म तत्व को जान लेगा उस समय अज्ञान का पर्दा हट जाएगा। आत्मा के दर्शन कर सकेगा। वही मोक्ष है। अतः जीव का कर्तव्य है कि वह अपने दिल और दिमाग में भरे अज्ञान को दूर करे और अविद्या के जाल को तोड ले।

जीव अपने अपने पाप पुण्य के कर्म स्वयं करके उनका फल भोग रहे हैं। इनके साथ ईश्वर का कोई संबंध नहीं है। जीव के पाप पुण्य को ईश्वर स्वीकार नहीं करता। इसलिए हर जीव को चाहिए कि वह ज्ञान का उपार्जन करे, भगवान के प्रति भक्ति भावना से ओतप्रोत हो, अपने अज्ञान को दूर कर ले, स्वप्रयत्नों से ही सांसारिक बंधनों से मुक्ति पावे।

प्रश्न - जीव क्यों दुःख पा रहे हैं ?

उत्तर - अज्ञान से जीवों का ज्ञान ढका हुआ है। इसलिए वे दुःख पारहे हैं।

सम्बन्ध - भगवान अब बताते हैं कि जीवों का वह अज्ञान दूर कैसे होगा ?

१६. ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥

शब्दार्थ - आत्मनः = आत्मा के। ज्ञानेनतु = ज्ञान से। येषाम् = जिसके। तदज्ञानम् = वह अज्ञान। नाशितम् = नाश किया गया। तेषाम् = उनके। ज्ञानम् = ज्ञान। आदित्यवत् = सूर्य की तरह। तत् परम् = उस परब्रह्म के स्वरूप को। प्रकाशयति = प्रकाशित कररहा है।

भावार्थ - परन्तु जिनका वह अज्ञान परमात्माके तत्त्वज्ञानद्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्रकाशित कर देता है।

व्याख्या - पिछले श्लोक में जीव के रोग का वर्णन किया गया। इस श्लोक में उसकी दवा का उपाय बताया गया है। वास्तव में दुःख ही जीव का रोग है। ज्ञान ही उसकी दवा है। पहले बताया गया कि दुःख का कारण अज्ञान ही है। दुःख को दूर करना हो तो अज्ञान को दूर करना है। ज्ञान से, तत्वचिंतन से और श्रवण, मनन तथा ध्यान आदि से प्रयत्न करके आत्मज्ञान जो प्राप्त करेगा वह अज्ञान के जाल से छूट जाएगा।

'आदित्यवत्' - जब सूर्य बादलों से घिरे रहते हैं तब संसार अंधकारमय हो जाता है। परन्तु झंझा के झोंकों से बादल जब छँट जाते हैं तब सूर्य स्वाभाविक रूप से दीप्तिमान रहते हैं। अन्धकार दूर होता है। इस प्रकार आत्मतत्व दीप्तिमान रहता है। परन्तु अज्ञानरूपी अन्धकार जब घेर लेता है तब आत्मतत्व अज्ञान से आवृत होजाता है। तब जीव दुःख पाता है। यह क्रम अनादिकाल से चलता आरहा है। इस आत्मतत्व का सृजन करने की कोई आवश्यकता

नहीं है। अब आवश्यकता है इस आत्मतत्व को अज्ञान के अंधकार से बाहर निकालने की। वह ज्ञान की झंझा से ही संभव है। तब आत्मारूपी आदित्य अच्छी तरह प्रकट होता है। वही मोक्ष की स्थिति है।

या ऐसा भी कहा जासकता है कि जिस प्रकार सूर्य सभी वस्तुओं को प्रकाशवान बनाता है, उसी प्रकार ज्ञान अज्ञान को दूर कर मनुष्य में स्थित ज्ञान रूपी ईश्वर को प्रकाशवान बनाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि ईश्वर जडपदार्थ है। वह स्वयं प्रकाशवान है। उसे उज्वल बनाने के लिए और किसी चीज की जरूरत नहीं है। स्वयं ईश्वर से ही सभी वस्तु प्रकाशवान हैं। दीप को घडे से ढक दें तो दीप का प्रकाश बाहर नहीं आता। वही अज्ञान की स्थिति है। लाठी से घडा फोड दें तो दीप का प्रकाश अपने आप प्रकट होता है। वही ज्ञान की स्थिति है। इसलिए साधकों को चाहिए कि वे अज्ञानरूपी अंधकार से बाहर निकल कर ज्ञानरूपी प्रकाश में कदम रखें। मोक्ष का मार्ग यही है।

''येषाम्'' कहा गया। इससे स्पष्ट है कि किसी भी जात का आदमी क्यों न हो ज्ञानी बन सकता है। तर सकता है।

हर जीव सूर्य के समान है। यही नहीं, वह सूर्य का भी सूर्य है। दिखाई देनेवाला सूर्य उस आत्मसूर्य के सामने कांतिहीन बनता है। फिर मनुष्य अज्ञान के अंधकार में पडे हुए हैं। यही जगन्माया है। अतः साधकों को चाहिए कि सद्गुरुओं के उपदेशों और सद्ग्रन्थों के पठन से अपने को सन्मार्ग पर चलावें। मोक्ष प्राप्त करें।

प्रश्न - अज्ञान किस तरह नष्ट होता है ?

उत्तर - आत्मज्ञान से अज्ञान नष्ट होता है।

प्रश्न - तब क्या होता है ?

उत्तर - चिद्रूप आत्मा स्वयं प्रकाशित होता है।

सम्बन्ध - भगवान बतलाते हैं कि आत्मज्ञान कैसे प्राप्त होगा।

१७. तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

शब्दार्थ - तत् बुद्धयः = उस परमात्मा में स्थिर बुद्धिवाले । तत् आत्मानः = उस परमात्मा में स्थित बुद्धिवाले । तत् निष्ठाः = उस परमात्मा में स्थिर निष्ठावाले । तत् परायणाः = उस परमात्मा में स्थिर परमगतिवाले । ज्ञान निर्धूतकल्मषाः = ज्ञान के द्वारा पापरहित हो कर । अपुनरावृत्तिम् = पुनर्जन्मरहित स्थिति । पच्छन्ति = पारहे हैं ।

भावार्थ - जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं ।

व्याख्या - इस श्लोक में भगवान आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए सुंदर साधन बताते हैं । मोक्ष का पद बातों से मिलनेवाला नहीं है । तीव्र साधना एवं सतत अभ्यास से ही वह मिलता है । पिछले श्लोक में बताया गया कि जब ज्ञान से अज्ञान के मेघ छँट जाते हैं तब ज्ञान सूर्य प्रकट होता है । इस श्लोक में बताया गया कि साधक को वह ज्ञान कैसे प्राप्त होगा ।

कोई भी कार्य एकाग्रता, चिंतन और तन्मयता से सफल होता है । यहाँ बताया गया कि इसी तरह जो साधक आत्मारूपी लक्ष्य तक पहुँचना चाहते हैं उन्हें आत्मा में बुद्धि को स्थिर कर के, उसी में मन को लीन कर, निष्ठावान बन कर रहना चाहिए । 'भ्रमरकीट' न्याय कहा जाता है । कीट (कीडा) भ्रमर का चिंतन करते हुए उसीका आकार ग्रहण करता है । यह लोकविदित है । इसी प्रकार मन जिसका चिंतन हमेशा करता रहता है उसीमें लीन हो जाता है । सभी महानुभाव इसी प्रकार ब्रह्म में तादात्म्य प्राप्त कर चुके हैं । ऐसा न होकर एक ओर मन दृश्य संबंधी सुखों में लगा रहे और

दूसरी ओर ईश्वर का चिंतन करता रहे तो वह मन एकाग्र नहीं हो सकता। भगवान का साक्षात्कार कर नहीं सकता। इसलिए साधक को चाहिए कि चित्त को आत्मारूपी लक्ष्य में लीन रखे और अपनी सभी शक्तियाँ उसी में केन्द्रित करे।

"अपुनरावृत्तिम्" - पुनरावृत्ति का मतलब है फिर से जन्म लेना। फिर से सांसारिक बंधन में बंधना। अपुनरावृत्ति इसके विपरित है। अर्थात् वह मरण रहित शाश्वत कैवल्य है। प्रश्न उठता है कि ऐसा महान् पद किसे प्राप्त होगा? जिसके पाप धुल जाते हैं और अज्ञान और अविद्या से जो मुक्त होते हैं उन्हें प्राप्त होगा। यह भी बताया गया कि "ज्ञान निर्धूत कल्मषाः"। आत्मज्ञान से माया के दोष समूल नष्ट होते हैं। जब तक जीव में पाप या कल्मष रहते हैं तब तक उसमें आत्मोदय नहीं होता। अतः उसे पहले ज्ञान के द्वारा खोल देना चाहिए। निरंतर आत्मचिन्तन, आत्मनिष्ठा तथा आत्म परायणता से वह ज्ञान प्राप्त होता है। अतः आलस्य न्याग कर, पुरुष प्रयत्न करके आत्मपद प्राप्त करना चाहिए। अशाश्वत सांसारिक वस्तु प्राप्त करने में सामान्य लोग लीन रहते हैं। परन्तु सभी को शाश्वत, दुःख रहित और पुनरावृत्तिरहित मोक्ष पद की प्राप्ति के लिए एकाग्र होकर प्रयत्न करना चाहिए ? शक्ति, युक्ति, बल एवं निष्ठा को दृश्यवस्तु से हटा कर ईश्वर पर केन्द्रिय कर सकें तो काफी है। तब मोक्ष करतलामलक हो जाएगा। भगवान यहाँ संदेश देते हैं कि जीव ईश्वर में प्रीति, श्रद्धा रख कर निष्ठा के साथ विचार करते हुए आत्मज्ञान प्राप्त करें। वे बताते हैं कि मोक्ष-प्राप्ति का यही मार्ग है। अतः मुमुक्षुओं को चाहिए कि भगवान के आदेश के अनुसार सतत अभ्यास के द्वारा आत्मनिष्ठा बढा कर जन्मरहित कैवल्यपद प्राप्त करें। यहाँ 'तत्' का अर्थ है "तत् परम्" अर्थात् परमात्मा।

गीता में परमात्मा का पद ६ नामों से वर्णित है।

(१) अक्षयसुख (२) निर्वाण ब्रह्म (३) उत्तम सुख

(४) परमगति (५) परमधाम (६) अव्ययपद

प्रश्न - मोक्ष का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - पुनरावृत्तिरहित और जन्मवर्जित शाश्वत आनंद पद ही मोक्ष है।

प्रश्न - वह किसे प्राप्त होता है ?

उत्तर - जिनका अज्ञान कल्मष नष्ट होता है, जिनके पाप नष्ट होते हैं उन्हें मोक्ष मिलता है।

प्रश्न - पाप कैसे नष्ट होता है ?

उत्तर - आत्मज्ञान से पाप नष्ट होता है।

प्रश्न - आत्मज्ञान की प्राप्ति कैसे होती है ?

उत्तर - आत्मा में बुद्धि को स्थिर कर, आत्मा का ही चिंतन करते हुए, आत्मा में ही मन को संलग्न कर, आत्मपरायण बने रहने से आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

सम्बन्ध - परमात्माकी प्राप्तिका साधन बतलाकर अब परमात्माको प्राप्तसिद्ध पुरुषोंके 'समभाव' का वर्णन करते हैं -

१८. विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

शब्दार्थ - विद्या विनय संपन्ने = विद्या, विनय से संपन्न। ब्राह्मणे = ब्राह्मण में। गवि = गायों में। हस्तिनि = हाथी में। शुनि च एक = कुत्ते में। स्वपाकेच = कुत्ते का मांस पका कर खानेवाले चांडाल में। समदर्शिनः = समदृष्टिवाले। पण्डिताः = ज्ञानी हैं।

भावार्थ - वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं।

व्याख्या - ज्ञानीजन समस्त जगत् को आत्मरूप मानते हैं। इसलिए सर्वत्र आत्मा के दर्शन करते हुए समभाव से प्रेम और दया की वर्षा करते रहते हैं।

ज्ञानियों की इस समभावना को दर्शानें के लिए यहाँ मनुष्यों, तिर्यग्जंतुओं में से कुछ उदाहरण के लिए लिये गये हैं। मानवों में उत्तम श्रेणी का प्रतिनिधित्व करने के लिए विद्या विषय संपन्न ब्राह्मण चुना गया। नीच श्रेणी में से कुत्ते का मांस खानेवाला चांडाल चुना गया। ये दोनों समाज की दो श्रेणियों को सूचित करते हैं। अतः इन दोनों का वर्णन पूरे सामाजिक वर्णन का सूचक बन गया है। इसी प्रकार जानवरों में गाय उत्तम श्रेणी की हैं। हाथी मध्यम श्रेणी का है और कुत्ता अधम श्रेणी का है। इन तीनों के वर्णन से तिर्यग्जाति का वर्णन आगया है। बताया गया कि इन सब को समान माननेवाला ही ज्ञानी है, पण्डित है। अकसर लोग समझते हैं कि पंडित वही है जो पांडित्य प्रकर्ष और साहित्य कौशल से भरा रहे। लेकिन भगवान यहाँ कहते हैं कि समदृष्टिवाला ही पण्डित है। समदृष्टिवाले अनपढ भी पण्डित ही होते हैं। जो ऐसे नहीं हैं वे जितने भी पांडित्य से विलसित क्यों न हों, पारमार्थिक दृष्टि से अज्ञानी ही हैं।

लोगों में कुछ की देहदृष्टि होती है । कुछ की मनोदृष्टि होती है। कुछ की आत्मदृष्टि होती है। देहदृष्टिवाले अधम हैं। प्राणी के देह सौंदर्य को ही वे देखा करते हैं। मनोदृष्टिवाले मध्यम श्रेणी के हैं। वे प्राणी के मनोभाव, विद्या एवं कविता के द्वारा करते हैं। आत्मदृष्टिवाले उत्तम श्रेणी के हैं। ये हर प्राणी की आत्मा को ही देखते हैं। यद्यपि जीवों के शरीर अलग हैं, मन अलग हैं पर आत्मा एक है। इसलिए आत्मदृष्टिवाले समस्त जीव जगत् के प्रति समभाव रखते हैं। ज्यादातर लोग मध्यम एवं अधम श्रेणी के ही होते हैं। उत्तम श्रेणी के लोग बहुत कम होते हैं। उन्हीं के बारे में इस श्लोक में बताया गया है।

इस श्लोक में बताया गया कि प्रेम दैवी गुण है। उसे मनुष्यों पर ही नहीं बल्कि जंतुओं पर भी दर्शाना चाहिए। केवल जंतु ही नहीं बल्कि समस्त जीवराशि पर प्रेम दिखाना चाहिए। यही आत्मदृष्टि है। यहाँ जीवराशि

के नामों का उल्लेख किया गया है। गाय, हाथी, कुत्ता, कीडा, एवं क्रिमि पर दया तथा प्रेम दिखाना चाहिए। अतः मुमुक्षु को चाहिए कि वह भगवान का बताया विशाल भाव अपनावे। सर्वमानव सौहार्द्रता से तृप्त न होकर सर्व आत्मिक दृष्टि को अपनावे। सभी प्राणियों में अपनी ही आत्मा के दर्शन करे। वह विश्वप्रेम ही इस श्लोक में प्रकट किया गया है। वही ज्ञानी सच्चा ज्ञानी है जो समस्त प्राणि जगत् के साथ तादात्म्य स्थापित कर सके। ज्ञानी एवं पण्डित के लक्षणों की पहचान यहीं पर होती है। इस श्लोक में आचरणमूलक वेदांत का स्पष्टीकरण किया गया है।

प्रश्न - पण्डित या ज्ञानी कैसा होता है ?

उत्तर - (१) विद्या एवं विनय संपन्न ब्राह्मण (२) गाय (३) हाथी (४) कुत्ता (५) कुत्ते का मांस खानेवाले चांडाल में समभाव रखनेवाला ही पण्डित है, ज्ञानी है।

सम्बन्ध - इस प्रकार तत्त्वज्ञानीके समभावका वर्णन करके अब समभावको ब्रह्मका स्वरूप बतलाते हुए उसमें स्थित महापुरुषोंकी महिमाका वर्णन करते हैं -

१९. इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

शब्दार्थ - येषां = जिनका। मनः = मन। साम्ये = समभाव युक्त निश्चल समस्थिति में। स्थितम् = स्थिर है। तैः = उनसे। इह एव = यहीं। सर्गः = जनन मरणरूपी संसार। जितः = जीता गया। हि = क्यों कि। ब्रह्म = ब्रह्म। निर्दोषम् = दोष रहित है। समम् = सम है। तस्मात् = इसलिए। वे = वे। ब्रह्मणि = ब्रह्म में। स्थिताः = स्थित हैं।

भावार्थ - जिसका मन समभाव में स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही संपूर्ण संसार जीत लिया गया है, क्यों कि सच्चिदानन्दघन परमात्मा

निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही स्थित है।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि जनन मरण रूपी भवबंधन से जीव छुटकारा कैसे पासकते हैं ? वास्तव में बंधन या मोक्ष का मुख्य कारण मन ही है। मन चंचल हो तो बंधन में जीव बंधता है। मन स्थिर हो तो मोक्ष पाता है। भगवान बताते हैं कि जिसका मन समदृष्टि से रहता है वह संस्कृति पर विजय पाता है। क्यों कि परब्रह्म दोष रहित है। सम है। ऐसे व्यक्ति ब्रह्म में स्थित रहते हैं। सजातीय वस्तु में सजातीय वस्तु ही मिलती है, विजातीय वस्तु नहीं। पानी में पानी ही मिलता है, तेल नहीं। तेल में तेल मिलता है पानी नहीं। इसीप्रकार ब्रह्म में लीन होने के लिए ब्रह्म के लक्षणवाली वस्तु ही चाहिए। उस ब्रह्म से संबंधित दो वस्तुओं के लक्षण यहाँ बताये गये हैं। (१) दोष राहित्य (२) समता। इन दोनों सद् लक्षणों को अभ्यास के द्वारा यदि जीव प्राप्त कर सके तो वह ब्रह्म में लीन होने के लिए अनुकूल एवं योग्य बनेगा। इस परम सत्य को भगवानने इस श्लोक में बताया है। महर्षि पतंजलिने कहा है कि सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्" । अर्थात् शुद्धता, निर्विषयता एवं समता में जब मन ब्रह्म का समानस्तर पाता है तब मोक्षस्थिति प्राप्त होती है। महर्षि वसिष्ठने कहा है -

न मोक्षो नभसः पृषे पाताले न च भूतले।
मोक्षो हि चेतो विमलं सम्यज्ञान विबोधितम्॥

(वसिष्ठ गीता)

अर्थात् मोक्ष आसमान में नहीं है, पाताल में नहीं है, भूतल में नहीं है। सम्यक् ज्ञान से प्राप्त होनेवाला निर्मल चित्त ही मोक्ष है। अतः हर कोई अपने हृदय को निर्मल बनावे, समस्थिति पर ले आवे तो मोक्ष पा सकता है। संसार को जीत सकता है।'इहैव' कहने से स्पष्ट है कि उपर्युक्त सद्गुणी यहीं, इसी जन्म में तर सकता है। अतः किसी को समझना नहीं चाहिए कि अब साधना करें तो किसी दूसरे जन्म में मुक्ति पा सकते हैं। फल तुरंत मिल

जाएगा। यहाँ बताया गया कि जिस जगह पर जिस समय मन निर्मल, निश्चल एवं समस्थित वह पाएगा, उसी जगह, उसी समय वह मुक्ति पासकेगा। "साम्ये स्थितम्" का अर्थ है कि चित्त अस्थिर न होकर निश्चल रहे, सब प्राणियों में स्थित ईश्वर का संदर्शन करे। आत्मदृष्टिवाला ही समदृष्टि रख सकता है। अतः चित्तको सदा स्थिर एवं निश्चल रखने का प्रयत्न मनुष्य को करना चाहिए।

इस प्रकार भगवानने मोक्ष पाने, सांसारिक बंधन का विच्छेद करने और माया पर विजय पाने के लिए जीवराशि को सुन्दर राजमार्ग दिखाया है। आश्वासन भी दिया है कि इस शरीर के रहते हुए ही वह कैवल्य स्थिति प्राप्त की जासकती है। "येषां" कह कर सब को विश्वास दिलाया है कि हर कोई प्रयत्न कर के ऐसी स्थिति प्राप्त कर सकते हैं।

प्रश्न - इस संसार को कौन जीत सकते हैं ?

उत्तर - जिनका मन दोषरहित होकर, समभाव से युक्त रहता है वह संसार को जीत सकता है।

प्रश्न - भव के दुःखों से पारपाने के उपाय क्या हैं ?

उत्तर -(१) मन का पाप एवं कल्मष रहित होना, (२) निश्चल होकर जीवराशि में समस्थिति से रहना ये दोनों अच्छे उपाय हैं।

प्रश्न - ब्रह्म क्या है ? कैसा है ?

उत्तर - (१) दोषरहित है (२) सम है।

प्रश्न - जीव कब मोक्ष पासकते हैं ?

उत्तर - जिस समय मन को निर्मल बनाते हैं, मन में समभावना को स्थिर करते हैं, उस समय मोक्ष पा सकते हैं।

सम्बन्ध - अब निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त समदर्शी सिद्ध पुरुषके लक्षण बतलाते हैं -

२०. न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।।

शब्दार्थ - स्थिर बुद्धिः = स्थिर बुद्धिवाले। असम्मूढः = मोहरहित। ब्रह्मणि = ब्रह्म में। स्थितः = स्तिर है। ब्रह्मचित् = ब्रह्मज्ञानी। प्रियम् = इच्छित वस्तु। प्राप्य = पाकर। न प्रहृष्येत् = खुश नहीं होता। अप्रियम च = अनिच्छित वस्तु। प्राप्य = पाकर। न उद्विजेत् = उद्विग्न नहीं होता।

भावार्थ - जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि ब्रह्म साक्षात्कार करनेवालों की पहचान क्या है ? ज्ञानी और अज्ञानी का अंतर उनके आचरण से प्रकट होता है। अंधे और आंखोवाले का अंतर उनकी चाल से प्रकट होता है। ब्रह्म ज्ञानी किसी भी स्थिति में विचलित नहीं होता। वह संयमित रहता है। सुख और दुःख दोनों ज्ञानी के लिए समान होते हैं। क्यों कि ब्रह्मज्ञानी के लिए यह जगत् स्वप्न के बराबर है। मिथ्या है। ऐसे मिथ्यालोक में ब्रह्मज्ञानी सुख से प्रसन्न नहीं होता, दुःख से दीन नहीं होता। उसका हृदय दोनों अवसरों पर समान रहता है।

''स्थिरबुद्धिरसम्मूढो'' - ब्रह्मज्ञ की बुद्धि मेरुपर्वत की तरह स्थिर रहती है। अज्ञानी की बुद्धि काम आदि के कारण चंचल रहती है। ब्रह्मज्ञानी हमेशा मोह आदि से दूर रहता है। इसीलिए वह ''असम्मूढ'' कहा गया। जो जानते हैं कि ये सब मृग मरीचिका है। इसलिए वे कभी मोहादि के पीछे नहीं पडते। अज्ञानी ही उनके पीछे पडते हैं। दुःख पाते हैं।

इससे स्पष्ट है कि जो साधक उपर्युक्त तीन सद्गुणों (स्थिरबुद्धि, समभावना और मोहराहित्य) का अभ्यास करते हैं वे कालक्रम में ब्रह्म में स्थिर होते हैं।

प्रश्न - ब्रह्मविद् के लक्षण क्या हैं ?

उत्तर - ब्रह्मविद् (१) प्रियवस्तु की प्राप्ति पर प्रसन्न नहीं होता और अप्रियवस्तु की प्राप्ति पर दुःखी नहीं होता। (२) स्थिर बुद्धि से युक्तरहता है। (३) मोह रहित रहता है।

सम्बन्ध - इस प्रकार ब्रह्ममें स्थित पुरुषके लक्षण बतलाये गये; अब ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके साधन और उसके फलकी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं -

२१. ब्राह्मस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥

शब्दार्थ - बाह्य स्पर्शेशु = बाह्य शब्दादि विषयों में। असक्तात्मा = आसक्तिरहित आत्मावाला। आत्मनि = आत्मा में। यत् सुखम् = जो सुख है। विन्दति = पाता है। सः = वह। ब्रह्मयोग युक्तात्मा = ब्रह्म निष्ठारूपी समाधि में स्थित होकर। अक्षयम् = नाशरहित। सुखम् = सुख को। अश्नुते = पाता है।

भावार्थ - बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि आत्मा में स्थिरता पानी हो तो शब्द आदि विषयों से मन को मोडना चाहिए। बाह्य विषयों में अनासक्त मन अंतर्मुखी बनकर आत्मा में स्थिर होकर अक्षय सुख प्राप्त करता है।

अक्षय सुख बाहर कहीं नहीं है, वह आत्मा में ही है। सांसारिक विषय संबंधी सुख अशाश्वत है। क्षयात्मक है। दुःख दायक है। आवागमन वाला है। वह प्रतिबिंबवाला सुख है। बिंबभूत सुख केवल एक आत्मा में ही है। सुख का प्रधानकेन्द्र अंतर ही है, बाहर नहीं। आत्मसुख ही वस्तुओं में

प्रतिबिंबित होकर विषय सुख के रूप में प्रकट होरहा है। इस सत्य को न जान कर अज्ञानी समझते हैं कि सुख कहीं बाहर है। जिस प्रकार हड्डी कुतरने वाला कुत्ता अपने ही मुँह से स्रवित होनेवाले खून को ही चाटते हुए समझता है कि यह हड्डी का खून है, फिर वह उसी भ्रम में पडा रहता है, उसी प्रकार सामान्य लोग शब्द स्पर्श आदि विषय वासनाओं के पीछा करते हुए मृगमरीचिका के पीछे दौडते हैं। दुःख भोगते हैं।

लेकिन विज्ञ पुरुष बाह्य विषयों के प्रति आसक्त न होकर आत्मिक सुख के लिए प्रयास करते हुए उसे पाकर कृतार्थ होते हैं। विषयों के प्रति विरक्ति पैदा हो तो मन उनसे दूर नहीं होता। ध्यान ठीक ढंग से नहीं जमता। इसलिए आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिए बाह्य वस्तुओं से मनुष्य को विमुख होना चाहिए। भगवानने कहा कि "बाह्यस्पर्शेष्कसक्तात्मा" बाह्य शब्दादि विषयों के प्रति मन का आसक्ति रहित होना आवश्यक है। इन्द्रियों को विषय वासनाओं की ओर जाने नहीं देना चाहिए। विषय वासनाओं के दोषों पर ध्यान देकर विरक्ति का अभ्यास करना चाहिए। तभी आत्मध्यान बेरोकटोक चलेगा। अक्षय सुखानुभव संभव होगा।

संसार में सब लोग निरतिशय सुख की कामना करते हैं। परन्तु उन्हें मालूम नहीं कि वह सुख कैसे प्राप्त होगा ? इसलिए दुःखी होते हैं। भगवानने कृपा करके अक्षय प्राप्ति का मार्ग दर्शाया। वह है विषयों के प्रतिविरक्ति का मार्ग। उसका अवलंबन कर लोगों को निरतिशयानन्द पाकर जीवन धन्य बनाना चाहिए। इस श्लोक के द्वारा निम्न लिखित अंश प्रकट होते हैं -

(१) सुख कही बाहर नहीं है, वह अंतर में ही है।

(२) बाहरी सुख क्षयमूलक है। दुःख मिश्रित है।

(३) शब्दादिविषय आत्मसुख के लिए अवरोध बने हुए हैं। अतः उनके प्रति आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। उनके पीछे दौडनेवाला कभी आत्मसुख नहीं पाता।

प्रश्न - आत्मसुख कैसा होता है ?

उत्तर - वह अक्षय है। (नाशरहित है)

प्रश्न - वह कैसे प्राप्त होगा ?

उत्तर - शब्द आदि विषयों के प्रति आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। आत्मा में निष्ठा रखनी चाहिए। तभी आत्मसुख प्राप्त होता है।

सम्बन्ध - भगवान बतलाते हैं कि विषय भोग दुःख दायक हैं। बंधनकारक हैं। अतः उनके आश्रय में नहीं जाना चाहिए।

२२. ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

शब्दार्थ - कौन्तेय = हे अर्जुन ! संस्पर्शजाः = विषय संयोग से होनेवाले। भोगाः = भोग। ये = जो। ते = वे। दुःखयोनयः एवहि = दुःख के हेतु बनरहे हैं। अद्यन्तवन्तः = आदि अन्तवाले। बुधः = विवेकी। तेषु = उनमें। न रमते = नहीं रमता।

भावार्थ - जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।

व्याख्या - पिछले श्लोक में बताया गया कि विषयों के प्रति विरक्ति रखना चाहिए। इस श्लोक में उसका कारण बताया गया है। विषयों और इन्द्रियों के संयोग से जो सुख मिलता है वह वास्तव में 'सच्चा सुख' नहीं है। यद्यपि ऊपर से वह थोडा सुखद लगता है, मगर अन्दर से अत्यंत दुःखदायक है। इसीलिए भगवान ने उसे "दुःखयोनि" कहा है। बडोंने कहा है कि सौख्यंतु बिन्दु मात्रेण दु·खं पर्वत मेवच" पहले थोडा सा सुखद लगने पर भी बाद को पर्वत जैसा दुःखदायक रहेगा। ये विषय वासनाएँ क्षणिक हैं। इसलिए विज्ञ पुरुष उनमें कभी नहीं रमते।

“दुःख योनयः” - विषय सुख अपनेगर्भ में दुःख को निहित रखते हैं। इसलिए जो विषय सुख भोगना चाहते हैं उन्हें उनके अंदर का दुःख भी भोगना पडता है। यह सब जान कर विज्ञ पुरुष उनके पास नहीं जाता। उनसे विरक्त रहता है। परन्तु अज्ञानी ऊपर की तडक भडक देख कर मुग्ध होजाते हैं और उन विषय सुखों का अनुभव कर गढे में गिरते हैं। कांटे में फंसी मछली की तरह तडप तडप कर नष्ट होते हैं। मछली ऊपरी मांस देख कर लालच में पडती है। उसके अन्दर जो कांटा छिपा है उसे देख नहीं पाती। फलस्वरूप मांस निगल कर कांटे का खुद शिकार बनती है। ‘दुःख योनयः’ का अर्थ यही है।

इस श्लोक के द्वारा दुश्य सुख में निहित दो बडे दोषों का पता लगता है। (१) ऊपर से सुखद लगते हुए भी अन्दर से दुःखादायी होना (२) आदि अन्त के होने के कारण क्षणिक होना। अर्थात् विषय भोगों में दुःख का होना और क्षणिकत्व का होना ये दो बडे दोष हैं। आत्मसुख वैसा नहीं है। उसमें दुःख कुछ भी नहीं रहता। वह तेलधारा की तरह अविच्छिन्न रहता है। वह शाश्वत है। विषय सुखों की उपमा छोटे दीप से दी जाय तो आत्मसुख की उपमा तेजस्वी सूर्य से दी जा सकती है। दीप कभी भी बुझ सकता है। पर आत्मा का भास्कर कभी उपशमित नहीं होता। इन्द्रिय सुख छोटे छोटे तालाब जैसे हैं। पल भर में वे सूख सकते हैं। पर आत्मानंद सागर जैसा है। वह किसी भी काल में नहीं सूखता। यह रहस्य जान कर ज्ञानीलोग विषय भोगों से विरक्त रहते हैं और आत्मानंद के आश्रित रहते हैं। वे बुधः - अकलमन्द हैं। विषय सुखों में रमते रहनेवाला बेवकूफ है। धनी, राजा, विद्वान यदि विषय वासनाओं में आसक्त हों तो भगवान की दृष्टि में वे निरे मूर्ख हैं।

प्रश्न - विषय सुखों का स्वभाव कैसा है ?

उत्तर - (१) वे अन्दर दुःख से भरे होते हैं।

(२) वे थोडे समय के लिए होते हैं।

प्रश्न - विज्ञ क्या करता है ?

उत्तर - नश्वर सुखों के पीछे न पडकर आत्मसुख का ही अन्वेषण करता है।

प्रश्न - विषयों के लिए दौडनेवाला कौन है ?

उत्तर - निरा मूर्ख है। अज्ञानी है।

सम्बन्ध - विषयभोगों को काम-क्रोधादि के निमित्त से दुःखके हेतु बतलाकर अब मनुष्यशरीरका महत्त्वदिखलाते हुए भगवान् काम-क्रोधादि दुर्जय शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेनेवाले पुरुषकी प्रशंसा करते हैं -

२३. शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

शब्दार्थ - यः = जो। शरीरविमोक्षनात् = शरीर त्यागने के। प्राक् = पूर्व। इह एव = यहीं। काम क्रोधोद्भवं = काम क्रोध से उत्पन्न। वेगम् = क्षोभ के। सोढुं =सहने को। शकनोति = समर्थ होता है। सः नरः = वह मनुष्य। युक्तः = योगी। सः = वह। सुखी = सुखी है।

भावार्थ - जो साधक इस मनुष्यशरीरमें, शरीरका नाश होनेके पहले-पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वही पुरुष योगी है और वही सुखी है।

व्याख्या - मोक्ष के लिए आवश्यक साधन सामग्री की व्यवस्था इस जीवन में ही करनी चाहिए। और एक जन्म या और एक लोक में वह संभव नहीं है। भूलोक कर्म भूमि है। यह साधना के लिए अनुकूल है। स्वर्ग आदि ऊर्ध्व लोकों तथा पाताल आदि अधोलोकों में पारमार्थिक साधना के लिए अनुकूल वातावरण नहीं रहता। इसीलिए यहाँ "इहैव" शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके पहले १९ वें श्लोक में "इहैव" शब्द का प्रयोग फिर से किया गया। दो बार इस शब्द का प्रयोग करने से स्पष्ट है कि भगवान चाहते हैं कि यहीं,

इसीलोक में आध्यात्मिक साधना शीघ्रातिशीघ्र पूरी करनी चाहिए। "प्राकछरीरविमोक्षणात्" - भगवानने चेतावनी दी है कि शरीर को त्यागने के पूर्व ही अर्थात् मृत्यु के पूर्व ही काम क्रोध आदि पर विजय प्राप्त करो। क्यों कि कोई कह नहीं सकता कि दूसरे जन्म में मनुष्य जन्म मिल सकेगा कि नहीं। यदि नहीं मिल भी जाय तो मोक्ष की साधना के लिए अनुकूल वातावरण मिलेगा कि नहीं। अतः इसी जीवन में प्रयास करके निरंतर पारमार्थिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

"शीर्यते इति शरीरम्" - यह शरीर शिथिल होनेवाला है। यह शरीर ज्यादा समय तक टिका नहीं रहता। वह बुद्बुद के समान है। कोई यह कह नहीं सकता कि मरण फलाने समय पर अवश्य आएगा। बुढापे में ही नहीं बल्कि बाल्य और यौवन काल में भी लोग मररहे हैं। अतः यह समझना कि मृत्यु बुढापे में ही संभव है, गलत है। बुढापे में शक्ति एवं सामर्थ्य का ह्रास होता है। इसलिए बुढापे में पारमार्थिक साधना संभव नहीं है। अतः शरीर के शिथिल होने के पूर्व ही काम क्रोध आदि दुर्गुणों को मिटा कर ध्यान आदि करने का सन्देश भगवान यहाँ देते हैं। यह भी बताते हैं कि ऐसा करनेवाला ही 'सुखी' होता है। शास्त्र भी घोषित करते हैं कि ऐसा न करें तो महानाशहोगा। जैसे -

"न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः" (केनोपनिषत्)

इससे स्पष्ट है कि अपने अंदर के काम क्रोध आदि दुर्गुणों का अन्त करना मोक्षकामी का प्रथम कर्तव्य है। अरिषड्वर्गों में काम और क्रोध मुख्य हैं। इसीलिए उन दोनों का उल्लेख यहाँ किया गया। अतः बाकी दुर्गुणों के बारे में इसी प्रकार समझना चाहिए। अर्थात् सभी को जीतना चाहिए। क्यों कि वे मनुष्य के प्रबल शतृ हैं। अतः साधक को हमेशा इनके बारे में सतर्क रहना चाहिए।

भगवान श्रीकृष्ण इस श्लोक के द्वारा लोगों को स्पष्ट ब़तलाते हैं कि

"हे लोगों ! शरीर छोडने के पहले ही इन्द्रिय, मन तथा काम क्रोध आदि दुर्गुणों पर विजय पाने का प्रयत्न करो। कोई नहीं जानता कि मरण कब आएगा। इसलिए सदा साधना में लीन रहो। मूल्यवान इस मानवजीवन को व्यर्थ मत करो। मनोविकार को जीत पाओगे तो अपार आत्मानंद पा सकोगे।

अध्यात्म के पथ पर चलते हुए सदा जागृत रहना चाहिए। असावधानी एवं आलस्य दोनों खतरनाक हैं। उनसे बचना आवश्यक है। 'वेगम्' - शब्द के प्रयोग से ज्ञात होता है कि काम आदि बहुत खतरनाक हैं। "स नरः" - कहा गया। इसका अर्थ है कि इस प्रकार काम आदि को जीत सकनेवाला ही नर है।

"शकनोति" - शब्द से स्पष्ट होता है कि भक्ति वैराग्य आदि के द्वारा काम आदि को आसानी से मिटाया जासकता है।

इस श्लोक के द्वारा निम्न लिखित बातें स्पष्ट बतायी गयीं हैं।

(१) शरीर के पतन के पूर्व ही मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिए।
(२) मोक्ष के प्रयत्नों में काम आदि दुर्गुणों को जीतना मुख्य है।
(३) जो दुर्गुणों को जीत सकेगा वही पूर्ण सुख पा सकेगा।

सम्बन्ध - भगवान बतलाते हैं कि इस प्रकार काम् आदि को जीत कर अंतर्मुखी बन सकनेवाला ही ब्रह्म की अनुभूति पा सकता है।

२४. योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥

शब्दार्थ - यः = जो। अन्तःसुखः = अंतरात्मा में सुखी। अंतरारामः = आत्मा में रमनेवाला। तथा = उसी प्रकार। यः = जो। अन्तर्ज्योतिः एव = आत्मा में प्रकाशित। सः योगी = वह योगी। ब्रह्मभूतः = ब्रह्मस्वरूप होकर। ब्रह्मनिर्वाणम् = ब्रह्म सायुज्य। अधिगच्छति = पाता है।

भावार्थ - जो पुरुष अन्तरात्मा में ही सुखवाला है, आत्मा में ही रमण

करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।

व्याख्या - इस श्लोक में बताया गया कि ब्रह्म का साक्षात्कार कौन कर सकता है। ब्रह्मनिर्वाण की स्थिति सर्वोच्च है। इसे हर कोई अपनी साधना के बल पर प्राप्त कर सकता है। वे प्रयत्न यहाँ सूचित किये गये हैं। बाह्य सुखों को पास पटकने नहीं देना चाहिए। दृष्टि को अंतर की ओर मोडना चाहिए। आत्मिक सुख का अन्वेषण करना चाहिए। इन्द्रियों और मन को विषय वासनाओं की तरफ आकृष्ट होने से बचाना चाहिए। विवेक एवं वैराग्य के द्वारा आत्मा में उन्हें स्थित करना चाहिए। इस श्लोक में तीन बातों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

(१) सुख (२) क्रीडा (३) ज्योति। इनके बारे में हम विचार करेंगे।

(१) सुख - साधारण लोग सुख के लिए बाह्य पदार्थों का शोधन करते हैं। इसके बदले में प्रतिबिंब रूप अल्प सुख ही पाते हुए उन्हीं को संपूर्ण सुख मान कर तृप्त होते हैं। वास्तव में सुख बाहर नहीं, अंतर में ही है। वह शाश्वत सुख है। यह सत्य जाननेवाले ज्ञानी अपनी सारी शक्ति को अंतर्मुखी बना कर आत्मिक सुख पाते हैं। ऐसे साधक धन्य हैं। वे ब्रह्म में लीन होते हैं।

(२) क्रीडा - अज्ञानी बाहरी क्रीडाओं में रमते हैं। विषय वासनाओं में लीन रहते हैं। वही उनके लिए क्रीडास्थल है। परन्तु विज्ञलोग जानते हैं कि दृश्य पदार्थ चंचल हैं। इसलिए उनकी उपेक्षा करके आत्मा के ध्यान में लीन रहते हैं। वही उनके लिए आरामस्थल है। बहिर्मुखीदृष्टिवालों को उसका मूल्य मालूम नहीं होता। वे नहीं जानते कि वैसी वस्तु भी एक है। परन्तु विवेकी पुरुष उस वस्तु को पहचानते हैं। उसकी शक्ति को जानते हैं। सदा उसी में लीन रहते हैं। अनंतशांति पाते हैं।

(३) ज्योति - सामान्य लोगों के लिए सूर्य और चन्द्र ही ज्योति पुंज हैं। वे

बाहर दिखायी देते हैं। परन्तु उन्हें दीप्त करनेवाली ज्योति और एक है। वह आत्मा है। वह सूर्य के नेत्र को प्रकाशित करता है। नेत्र को बुद्धि दीप्तिमान बनाती है। बुद्धि को आत्मा प्रकाशित करता है। वह ज्योति की ज्योति है। परंज्योति है। महानुभाव उस परंज्योति के आश्रय में जाते हैं। शाश्वत रूप से प्रकाश पुंज बन कर उज्वल होते हैं। जीवन्मुक्त बनते हैं।

इस प्रकार दृश्य व्यामोह छोड कर आत्मा को ही सुख की खान, क्रीडास्थली एवं प्रकाश क्षेत्र मान कर जो साधक आत्मा के ध्यान में लीन रहता है वह ब्रह्म निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करता है।

प्रश्न - ब्रह्म सायुज्य (मोक्ष) कौन पासकता है ?

उत्तर- (१) जो बाह्य सुख त्याग कर आत्मा में ही सुख प्राप्त करते हैं।

(२) जो बाह्य क्रीडाओं के प्रति आसक्त न होकर आत्मा में रमता है।

(३) जो बाह्य प्रकाश में रुचि न रख कर आत्मा में ही प्रकाश देख सकता है। वह ब्रह्म सायुज्य पासकता है।

सम्बन्ध - इस प्रकार जो परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो गये हैं, उन पुरुषोंके लक्षण दो श्लोकोंमें बतलाते हैं -

२५. लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥

शब्दार्थ - क्षीणकल्मषाः = जिनके पाप नष्ट हैं। छिन्न द्वैधाः = जिनके संशय निवृत्त हैं। यतात्मानः = जिनके इन्द्रिय मन वश में हैं। सर्वभूतहिते = समस्त प्राणियों के हित में। रताः =आसक्त। ऋषयः = ऋषी। ब्रह्मनिर्वाणम् = ब्रह्म सायुज्य। लभन्ते = पारहे हैं।

भावार्थ - जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं, जिनके सब संशय ज्ञानके द्वारा निवृत्त हो गये हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं और जिनका जीता

हुआ मन निश्चलभावसे परमात्मामें स्थित है, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

व्याख्या - इस श्लोक में बताया गया कि ब्रह्म सायुज्य अर्थात् मोक्ष कौन पासकते हैं। यहाँ बताया गया कि ऋषि मोक्षधाम को अलंकृत करते हैं। प्रश्न उठता है कि ऋषि कौन हैं ? हृषीकों (इन्द्रिय) को जीत कर मन को परमात्मा में जो लीन करसकते हैं वे ही ऋषि हैं। ऋषित्व एक महोन्नत पद है। वह (बि.ए., एम.ए की तरह) एक उपाधि है। उसे प्रयत्न करके सभी प्राप्त कर सकते हैं। आज जो अज्ञानी बना हुआ है वह कल प्रयत्न करके ऋषि बन सकता है। जिस प्रकार विश्व विद्यालय की उपाधि पाने के लिए लोग १० या १५ बरस निरंतर प्रयास करते हैं उसी प्रकार ऋषि की उपाधि पाने के लिए साधक को सदा सर्वदा प्रयास करना चाहिए। जो इस साधना में सफल बनेगा वह साधारण मानव के रूप में नहीं रहेगा। ऋषि बन जाएगा। साक्षात् ईश्वर बन जाएगा। इस साधना के चार मुख्य अंश हैं। वे निम्न प्रकार हैं। **(१) पाप राहित्य (२) संशय तथा द्वंद्वराहित्य (३) इन्द्रिय एवं मन का निग्रह (४) सर्वभूतों पर दया** साधक के लिए ये मुख्य हैं। अतः इन पर विचार करना जरूरी है।

(१) "पाप राहित्य" - हर जीव के चित्त में जन्म जन्म का पापपंकिल संचित रहता है। वह पारमार्थिक मार्ग में अडचन बनता है। पापी के चित्त में आत्मज्ञान का उदय नहीं होता। इसलिए पुण्यकार्यों, निष्काम कर्मों तथा भक्ति एवं ध्यान आदि के द्वारा उस पाप को धो देना चाहिए। साफ वस्त्र की तरह चित्त को साफ और निर्मल रखना चाहिए।

(२) संशय राहित्य - संशय एवं द्वंद्व आदि को विवेक की सहायता से मिटा देना चाहिए। पारमार्थिक ज्ञान एवं तत्व विचार के द्वारा सभी संशयों को मिटा लेना चाहिए।

(३) इन्द्रिय एवं मन का निग्रह - दृश्य वस्तुओं की ओर दौडनेवाले इंद्रिय एवं मन मोक्ष के मार्ग में बडे अडचन बनते हैं। इसलिए विवेक एवं वैराग्य के द्वारा उन अवरोधों को मार्ग से हटा देना चाहिए। इन्द्रिय निग्रह के बिना मोक्ष के मार्ग पर एक कदम भी चलना मुश्किल है। बेलगाम के घोडे जिस प्रकार रथ को गम्य स्थल तक नहीं पहुँचा सकते, उसी प्रकार असंयमित इन्द्रियोंवाला मनुष्य मुक्तिधाम पहुँच नहीं सकता। इसलिए उन्हें अपने वश में रखना चाहिए।

(४) सर्वभूतों पर दया - गीता में "सर्व भूतहितेरताः" वाक्य और उसका भाव कई जगहों पर मिलते हैं। यह अनुष्ठान वेदान्त का सूत्र है। सब कुछ ब्रह्म ही है यह इसका सिद्धांत है। सर्व भूतों पर दया उसी सिद्धांत का आचरण संबंधी स्वरूप है। एक प्राणी की निन्दा करते हुए उससे द्वेष करनेवाला कभी भी सर्वात्मनाभाववाला नहीं बन सकता। "सब कुछ आत्मा ही है" समझनेवाला किसी भी प्राणी का अपकार नहीं करता। उपकार ही करता है। क्यों कि सारे विश्व को आत्मस्वरूप माननेवाला किसी प्राणी का अपकार करे तो वह उसी के साथ अपकार होगा। इसलिए उसमें सभी जीवों पर दया छलकनी चाहिए। आत्मज्ञानी की पहचान के लिए यह एक अच्छी कसौटी है। ध्यान, अनुष्ठान आदि को दवा मानें तो सभी भूतों पर दया पथ्य जैसा है। दवाएँ लेकर पथ्य ठीक तरह से न करें तो रोग दूर नहीं होगा। इसी प्रकार भगवान का ध्यान करते हुए भूतदया एवं जीव कारुण्य से दूर रहें तो वह ध्यान सही नहीं रहेगा। उससे भवरोग दूर नहीं होगा। यहाँ "सर्वभूतहितेरताः" कहा गया है। इससे सूचित होता है कि किसी एक प्राणी पर नहीं, सारी जीवराशि पर करुणा दिखानी चाहिए। इस प्रकार उपर्युक्त चार लक्षणों से युक्त ऋषि बन सकनेवाला ब्रह्मनिर्वाण रूपी मोक्ष पा सकेगा।

प्रश्न - ब्रह्म साक्षात्कार (मोक्ष) कौन पा सकते हैं ?

उत्तर - (१) जिसके पाप नष्ट होते हैं।

(२) जिसके संशय और द्वंद्व मिट जाते हैं।

(३) जिसके वश में उसकी इन्द्रियाँ रहती हैं।

(४) सभी भूतों पर जो दया दिखाते हैं। वे ही ब्रह्म निर्वाण पा सकते हैं।

प्रश्न - ऋषि कौन हैं ?

उत्तर - उपर्युक्त चार सुगुणों से युक्त ज्ञानी ऋषि हैं।

२६. ***कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।***
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

शब्दार्थ - काम क्रोध वियुक्तानां = काम क्रोध से रहित। यतचेतसाम् = जीते हुए चित्तवाले। विदितात्मनाम् = आत्मतत्व जाननेवाले। यतीनाम् = यत्नशीलोंको। ब्रह्मनिर्वाणम् = ब्रह्म सायुज्य। अभितः = सर्वत्र। वर्तते = पूर्ण है।

भावार्थ - काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं।

व्याख्या - "मोक्ष कहाँ है ? उसे कौन पा सकते हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर यहाँ दिया गया है। यहाँ बताया गया कि (१) जिसके काम क्रोध मिट जाते हैं (२) जिनके वश में उसका चित्त रहता है (३) आत्मा को जो जानता है, उसकी चारों तरफ मोक्ष विराजमान रहता है। वेदांत शास्त्र में अकसर कहा जाता है कि वासनाक्षय, मनोनाश तथा तत्वज्ञान से विलसित साधक मोक्षगामी होता है। इन तीन साधनों के बारे में भगवानने गीता में कई जगहों पर कहा है। यहाँ तत्वज्ञान की सहायता से काम आदि वासनाओं का क्षय होता है तो मनोनाश अपने आप हो जाता है। शास्त्र कहते हैं कि ये तीनों एक दूसरे से मिले रहते हैं। अलग करना मुश्किल है। तीनों को एक ही समय

साधना चाहिए। प्रयत्नशील साधकों को ही मोक्ष मिलता है, सुस्तों को नहीं। शायद यही बात बताने के लिए 'यतीनां' शब्द का प्रयोग किया गया है। यती का अर्थ है यत्नशील। कहा जाता है कि उद्योगिनं पुरुषसिंह मुपैति लक्ष्मीः" अर्थात् प्रयत्न शील व्यक्तियों को ही लक्ष्मी वरण करती है। अतः सद्गुरु, सच्छास्त्र तथा परमात्मा पर पूर्ण विश्वास करके साधना करनी चाहिए। मोक्ष प्राप्ति के लिए ऊपर उल्लिखित तीन साधनों का अनुष्ठान बडी सहिष्णुता के साथ करनी चाहिए।

इनमें पहली साधना है (१) काम आदि का परित्याग। आत्मस्वरूप के विचार और मिथ्यात्व भावना के अनुशीलन से काम क्रोध आदि दुर्गुण दूर होते हैं। (२) दूसरा है मनोनिग्रह। मन को अधीन करना हो तो सब से पहले रजोगुण और तमोगुण को जीतना चाहिए। लोहा जब आग में जलकर नरम पडता है तभी वह ढांचे में ढाला जा सकता है। इसी प्रकार ज्ञान की अग्नि से चित्त को जलाने से वह वश में हो सकता है। रजोगुण और तमोगुण उसमें से दूर किये जासकते हैं। सांसारिक चक्र के मूल में चित्त ही प्रधानरूप से स्थित है। चित्त हिले तो जग हिलेगा। चित्त शमित हो तो जग शमित होगा। चित्त को जीतना हो तो उससे ऊपर स्थित आत्मा को पकडना चाहिए। "एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा" कहा गया है। आत्मा की स्थिरता से चित्त एवं इन्द्रिय आदि आसानी से वश में होते हैं। (३) तीसरी साधना है आत्मज्ञान। आत्मा के स्वरूप को जान कर निरंतर उसीका ध्यान करते रहना चाहिए। मनुष्य को समझना चाहिए कि मैं वह शरीर नहीं, इन्द्रिय नहीं, मन नहीं, बुद्धि भी नहीं है। उन सब का साक्षी असल में आत्मा है। प्रज्ञा है। साक्षी की उस स्थिति में स्थिर रहने का अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य को अच्छी तरह समझना चाहिए कि मरनेवाला शरीर वह नहीं है। मरनेवाला शरीर पचभूतात्मक है। मगर आत्मा नाशवान नहीं है। अविनाशी है। निर्विकार है। इसी का चिंतन उसे करना चाहिए। यही तत्वज्ञान का अभ्यास है।

इस प्रकार उपर्युक्त तीन साधनों का जो अनुष्ठान करता है वह कृतकृत्य बनता है। मोक्ष उनकी चारों ओर विद्यमान रहता है। वे साक्षात् मोक्ष स्वरूप हैं। ब्रह्म स्वरूप हैं। मोक्ष कहीं आसमान या पाताल में नहीं है। ऐसे समझनेवालों के विचारों का भगवानने यहाँ खंडन किया है। उन्होंने इस श्लोक के द्वारा स्पष्ट बता दिया कि निर्मलचित्तवाले के पास ही मोक्ष सदा विराजमान रहता है।

२७. *स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।*
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥

२८. *यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।*
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥

शब्दार्थ - य = जो। बाह्यान् स्पर्शान् = बाह्य शब्दस्पर्शादि विषयों को। बहिःकृत्वा = बाहर ही निकाल कर। चक्षुः = दृष्टि को। भ्रूवोः अन्तरे एव = भृकुटी के बीच नासाभ्यन्तरचारिणौ = नाक में विचरनेवाले। प्राणापानौ = प्राणापान वायुओं को। समौ च कृत्वा = सम कर। यतेन्द्रिय मनोबुद्धिः = वश में किये गये इन्द्रिय, मन, बुद्धिवाले। विगतेच्छा भयक्रोधः = इच्छा क्रोध, भय रहित। मोक्षपरायणः = मोक्षासक्त। मुनिः = मननशील। सः = वह। सदा = हमेशा। मुक्तः एव = मुक्त ही होगा।

भावार्थ - बाहरके विषय-भोगोंको न चिन्तन करता हुआ बाहर ही निकालकर और नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थित करके तथा नासिकामें विचरनेवाले प्राण और अपानवायुको सम करके, जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जीती हुई हैं - ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि इच्छा, भय और क्रोधसे रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है।

व्याख्या - "स्पर्शान्कृत्वाबहिर्बाह्यान्" - "शब्द आदिविषयों का क्षेत्र बाह्य जगत् है। जीव के अंतर क्षेत्र में प्रविष्ट होने का हक उन्हें नहीं है। "यह

सोच कर विज्ञ उन्हें जहाँ के तहाँ ही रहने देते हैं। अंदर आने नहीं देते। अगर आजायें तो उन्हें बाहर खदेड देते हैं। अविवेकी उन्हें हृदय में आने देता है। फलस्वरूप भवबंधनों में बंध कर वह तकलीफें उठाता है। अतः ज्ञानी पुरुष सतर्क रह कर उन्हें अन्दर आने ही नहीं देता। हमेशा जागृत रहता है।

"चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः" - शब्द आदि बाह्य विषयों को रोक कर, ध्यान निष्ठ होकर दृष्टि को भृकुटी के बीच केन्द्रित करता है। इसी को खेचरी मुद्रा कहते हैं। ध्यान करनेवाले यदि आंखें खोल कर रहेंगे तो चारों तरफ की चीजें दिखायी देंगी और उसका मन भटक जाएगा। आंखें बन्द करें तो निद्रा का खतरा हो सकता है। इसीलिए मध्यमार्ग का अनुसरण कर आंखें निमीलित कर भौहों के बीच आंखें केन्द्रित कर ध्यान करना चाहिए। भौहों के बीच आज्ञाचक्र है। आंखों के समीप होने के कारण भृकुटियों के बीच दृष्टि को केन्द्रित करना साधक के लिए आसान है। फिर भी कुछ साधक नासिका की छोर पर, कुछ साधक हृदय पर और कुछ साधक सहस्रार पर दृष्टि केन्द्रित कर ध्यान करते रहते हैं। अपनी अपनी सुविधा के अनुसार साधक ध्यान कर सकते हैं। मुख्य विषय चित्त को बाह्य विषयों में उलझने नहीं देना है।

"**प्राणा पानौ समौ कृत्वा**" - आमतौर पर जीवों में प्राण तथा अपानवायु समान रूप से बहती रहती है। प्राणायाम के अभ्यास से उसे क्रमरीति से चलने देना स्वास्थ्य तथा चित्त की एकाग्रता के लिए आवश्यक है। इसीलिए प्राणायाम अष्टांग योग का एक अंश माना गया। प्राण एवं मन का सन्निकट सम्बन्ध है। एक को रोकें तो दूसरा भी रुक जाएगा। इसीलिए अतिसूक्ष्म मन को रोकने तथा उसे वश में रखने में सहायता करने के निमित्त शास्त्र में प्राणायाम का आयोजन किया गया। प्राण अपान को समानरूप से बहने देने से मन चंचल न होकर एकाग्र होता है।

"**यतेन्द्रिय मनोबुद्धि**" - साधक को चाहिए कि इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि को वश में रखे। वह उनके कहे अनुसार न नाचे। उन्हें अपने काबू में रखे।

इसीको इन्द्रियनिग्रहं कहते हैं। अज्ञानी इन्द्रियों का दास बन कर नाचता है। पर ज्ञानी उन्हें अपने काबू में करलेता है। वास्तव में उन सब से परे आत्मा है। इस सत्य को जान कर अभ्यास वैराग्य के द्वारा इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि को अपने वश में रख लेना चाहिए।

"**मोक्ष परायणः**" - अज्ञानी भोगी होते हैं। परन्तु मुमुक्षु मोक्ष कामी होकर सदाचारी रहते हैं। कैवल्य की प्राप्ति के लिए तीव्र मुमुक्षुत्व आवश्यक है। मोक्ष के लिए तडपनेवालों को ही मोक्ष की लक्ष्मी प्राप्त होती है। जो साधक हमेशा मोक्ष के लिए परितप्त होता है और सदा सोचता है कि कब बंधनों से छूटूँ और कब जनन मरण रहित शाश्वत पद प्राप्त करूँ। ऐसे साधकों के समीप मोक्ष सदा विद्यमान रहता है। इतिहास में ऐसे कितने ही महान् पुरुषों के बारे में पढते हैं जो ईश्वर के दर्शन के लिए जीवन भर पडपते रहे और आंसू की धारा बहाते रहे। वे मोक्ष के अधिकारी हैं। वे मुक्ति के साधनों का सदा सर्वदा उपयोग करते हैं।

"**विगतेच्छा भयक्रोधः**" - पहले कई बार भगवानने काम आदि वासनाओं के त्याग के बारे में लोगों को सावधान किया। आगे भी चेतावनी देते हैं। उनका निर्मुलन हृदय की शुध्दि और आत्म ज्ञानोदय के लिए अत्यंत आवश्यक है। इसीलिए उनके बारे में बार बार कहा गया है। काम , क्रोध - एवं भय ये तीनों दुर्गुणों के नायक हैं। नायकों पर विजय प्राप्त करें तो बाकी सैनिक तुरन्त वश में हो जाएंगे। ये तीनों दुर्गुण चित्त से निकल जायं तो कई से मुक्त सरोवर की तरह , मैल से मुक्त दर्पण की तरह , धुएं की राख से मुक्त चिमनी की तरह साधक का हृदय निर्मल बन जाता है। निर्मल हृदय में ही ज्ञान भास्कर उदित होता है। मुनि : = मननशील व्यक्ति।

'**सदामुक्तः**' - इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त सद्गुणों से युक्त महानुभाव सदा मुक्त ही रहता है। मोक्ष केलिए और एक लोक जाने की जरूरत नहीं है

और एक देह धरने की जरूरत नहीं है। साधक उन साधनाओं में जब सफल होगा तब मनुष्य मुक्त होगा। भगवानने जगत् को इसीबात का आश्वासन दिया है।

प्रश्न - मोक्ष प्राप्ति के उपाय क्या है'?

उत्तर - (9) शब्द आदि विषयों का त्याग। (२)एकाग्र ध्यान (३) प्राणायाम (४) इन्द्रिय मन एंव बुध्दि का निग्रह। (९) मनन शीलता (५) मोक्षपरायणता (७) काम क्रोध एवं भय रहित होना

सम्बन्ध - भगवान अब मोक्षप्राप्ति के सुलभ उपाय के रूप में भक्ति का विवरण देते हैं -

२९. भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

शब्दार्थ - यज्ञ तपसां = यज्ञ और तप केलिए। भोक्तारम् = भोक्त के रुप में। सर्वलोक महेश्वरम् = समस्त लोकों के ईश्वर के रुप में। सर्व भूतानां = समस्त प्राणियों के लिए। सहृदय = हित करनेवाले के रुप में। माम् = मुझे। ज्ञात्वा जान कर। शान्तिम् = शांति। ऋच्छति = पारहा है।

भावार्थ - मेरा भक्त मझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरों का भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।

व्याख्या - "शांति कैसे प्राप्त की जासकती है ? दु:ख कैसे दूर हो सकते है? मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है ?" इन प्रश्नों का उत्तर इस श्लोक के द्वारा दिया गया है। कहा गया कि जो भगवान को जान पाएगा वह शांति पासकेगा। अब प्रश्न उठता है कि भगवान कैसा है ? उसके कुछ लक्षण यहाँ बताये गये हैं। वे निम्न प्रकार हैं। (१) समस्त यज्ञों और तपस्याओं का फल भोगनेवाला ईश्वर चराचर प्राणिजगत् में व्याप्त है। इसलिए सभी मुख्य कार्यों तथा धार्मिक कार्यों का कर्ता एवं फल भोक्ता वही है। (२) वह सभी लोकों का प्रभु है।

शासक है। एक लोक का ही नहीं सभी लोकों का ईश्वर है। वह महेश्वर भी है। मतलब यह कि उनसे बढकर इसका कोई है ही नहीं। (३) इस प्रकार सभीलोकों के नियामक होकर भी उसका हृदय अति कोमल है। क्योंकि सभी प्राणियों का वह आप्त मित्र हैं। उपकारी है। हितकारी है। 'सर्वभूतानाम्' कहा गया। इससे स्पष्ट है कि वह एक नहीं, सभी प्राणियों का हित करता है। लोगों पर दया करके उन्हें भवसागर के उस पार पहुँचाने के लिए भगवानने गीता का ज्ञान प्रदान किया। वेद शास्त्रों का सृजन कर लोगों का महोपकार किया। भक्तों का उद्धार करने को सदा सर्वदा सन्नद्ध हैं। जगत् की अणु अणु का परिशीलन करें तो पता लगेगा कि भगवान की कृपा उसमें किस प्रकार कूट कूट कर भरी हुयी है। ईश्वर की महत्ता से परिचित व्यक्ति हमेशा उन्हीं का स्मरण और चिंतन करते हैं। फलस्वरूप वे बडी शांति पाते हैं। उपनिषदों का कहना है कि 'तेषां शान्ति प्राप्त होती हैं अन्यों को नहीं। हर मनुष्य शान्ति ही चाहता है। ऐसी शान्ति की प्राप्ति के लिए भगवानने यहाँ एक अच्छा उपाय बताया है। परमात्मा को सर्वलोकों के प्रभु जान कर उनका ध्यान करना चाहिए। वही शान्ति प्राप्ति का राजमार्ग है। भक्ति ही शान्ति का मार्ग है। 'ज्ञात्वा' कहा गया। इसका मतलब है ईश्वर के स्वरूप एवं ईश्वर के तत्व को समझना। तभी ईश्वर में मन लगेगा। ऐसे मन में भक्ति का उदय होगा। किसी वस्तु पर तभी विश्वास जमेगा, तब कि उसकी महत्ता हमें मालूम हो।

आमतौर पर देखा जाता है कि जब कभी कोई सरकारी अफसर गाँवों में जाता है तब वहाँ के लोग उसका बडा आदर करते हैं। राजा आवे तो उसका और भी बडे पैमाने पर आदर करते हैं। परन्तु आश्चर्य एवं चिंता का विषय है कि राजाओं का राजा और समस्त ब्रह्मांड का नियंता सर्वेश्वर पर कुछ लोग विश्वास नहीं करते। यद्यपि वह ईश्वर हर प्राणी के पास ही है, परन्तु प्राणी उसे पहचान नहीं पाते। सर्वशक्तिमान परमात्मा पर विश्वास के न होने से जीव का पतन होता है। यही अशांति का भी बहुत बडा कारण है।

इसलिए हर प्राणी को चाहिए कि वह ईश्वर की शक्ति एवं महत्ता को समझे, भक्ति के साथ उसकी सेवा करे। ईश्वर का ध्यान एवं चिंतन ही शान्ति, सुख एवं जन्मराहित्यका एकैक मार्ग है। यही सत्य इस श्लोक में प्रकट किया गया है।

इस अध्याय में ज्यादातर इन्द्रियनिग्रह तथा तत्वविचार आदि अनेक साधनों का विवरण दिया गया है। अध्याय के अंत में भक्तिमार्ग का उपदेश दिया गया। इससे स्पष्ट होता है कि हर प्राणी को सुलभता से प्राप्त होनेवाली भक्ति का आधार पहले लेना चाहिए। ईश्वर की कृपा के पात्र बन कर क्रमशः अध्यात्म मार्ग पर आगे बढना चाहिए। अंत में परमात्मा में लीन होकर परम शान्ति की प्राप्ति करनी चाहिए।

प्रश्न - शान्ति की प्राप्ति का मार्ग क्या है ?

उत्तर - भगवान के स्वरूप को अच्छी तरह समझना और भक्ति से उसका ध्यान एवं उसकी आराधना करना ही शान्ति की प्राप्ति का मार्ग है।

प्रश्न - भगवान का स्वरूप कैसा है ?

उत्तर - भगवान (१) सभी यज्ञों एवं तपस्याओं का भोक्ता है (२) सभी लोकों का प्रभु है (३) सभी जीवों का आप्त मित्र है और सब का हितकारी है।

ॐ

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म विद्यायां योग शास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुन संवादे कर्म सन्यासयोग नाम पञ्चमोऽध्यायः।

यह उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित, ब्रह्मविद्या, योग शास्त्र, श्रीकृष्णर्जुन संवाद से युक्त श्रीमद्भगवद्गीता का कर्मसन्यासयोग शीर्षक पांचवाँ अध्याय है।

ॐ तत् सत्

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ षष्ठोऽध्यायः

छटा अध्याय

आत्म संयमयोगः

आत्म संयमयोग

इस अध्याय का शीर्षक -

इस अध्याय का शीर्षक ''आत्म संयम योग'' है। इसीको ध्यानयोग भी कहते हैं। यहाँ आत्मा का अर्थ शरीर, इन्द्रिय मन और बुद्धि से है। इस अध्याय में बताया गया कि उन सब को किस प्रकार वश में करना चाहिए। इसीलिए इस अध्याय का शीर्षक आत्मसंयम योग रखा गया।

इस अध्याय के प्रधान विषय -

निष्कामकर्मयोग की प्रस्तावना एवं योगारूढ के लक्षण (श्लोक १ से श्लोक ४ तक) आत्मोद्धार एवं जितेन्द्रिय के लक्षण -(श्लोक ५ से श्लोक १० तक) मनोनिग्रह के बारे में विचार -(श्लोक ११ से श्लोक ३६ तक) योगभ्रष्ट की सद्गति एवं ध्यान योग की महिमा -(श्लोक ३७ से श्लोक ४७ तक)।

सम्बंन्ध - पाँचवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने 'कर्मसंन्यास' (सांख्ययोग) और 'कर्मयोग' इन दोनों में से कौन-सा एक साधन मेरे लिये सुनिश्चित कल्याणप्रद है ? - यह बतलानेके लिये भगवानसे प्रार्थना की थी। इसपर भगवान् ने दोनों साधनों को कल्याणप्रद बतलाया और फलमें दोनोंकी समानता होनेपर भी साधन में सुगमता होने के कारण 'कर्मसंन्यास' की अपेक्षा 'कर्मयोग' की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। तदनन्तर दोनों साधनों

के स्वरूप, उनकी विधि और उनके फलका भलीभाँति निरूपण करके अत्यन्त उपयोगी एवं परमात्मा की प्राप्तिका प्रधान उपाय समझकर संक्षेप में ध्यानयोगका भी वर्णन किया। परंतु दोनोंमेंसे कौन-सा साधन करना चाहिये, इस बातको न तो अर्जुन को स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा ही की गयी और न ध्यानयोगका ही अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित विस्तार से वर्णन हुआ। इसलिये अब ध्यानयोग का अङ्गोंसहित विस्तृत वर्णन करनेके लियेछठे अध्यायका आरम्भ करते हैं और सबसे पहले अर्जुनको भक्तियुक्त कर्मयोगमें प्रवृत्त करनेके उद्देश्यसे कर्मयोगकी प्रशंसा करते हुए ही प्रकरणका आरम्भ करते हैं -

१. *अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।*
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।।

शब्दार्थ - श्री भगवानुवाच = श्री भगवान बतलाते हैं। यः = जो। कर्मफलं = कर्म के फल को। अनाश्रितः = अनपेक्षित होकर। कार्य = करनेयोग्य। कर्म· = कर्म को। करोति = कररहा है। सः = वह। सन्यासी = सन्यासी। योगी च = योगी। (भविति = होता है)। निरग्निः = अग्निहोत्र को छोडनेवाला। न = नहीं। अक्रियःच = कर्म छोडनेवाला। न = नहीं।

भावार्थ - श्री भगवान् बोले - जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करनेयोग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है; और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है।

व्याख्या - कुछ लोग समझते हैं कि सन्यासी माने अग्निहोत्र त्यागनेवाला है या काषायांबर धारणकरनेवाला है। कुछ लोग समझते हैं कि योगी माने सब कर्म त्याग कर पहाडों या वनों में जाकर एकांत रहनेवाला है। लेकिन ये सब बाह्यचिह्न हैं। इतने मात्र से यह कहा नहीं जासकता कि ये सन्यासी हैं और ये योगी हैं। अंदर की विषय वासनाओं का अंत होना चाहिए। सांगत्य को

त्यागना चाहिए। फल की अपेक्षा को छोडना चाहिए। बाह्य एवं अंतर के व्यवहारों में पूरा परिवर्तन होना चाहिए। भगवान स्पष्ट घोषित करते हैं कि तभी वे सन्यासी और योगी कहला सकते हैं।

यहाँ बताया गया कि उपर्युक्त कर्म करना सन्यासी या योगी का लक्षण है। इस श्लोक में स्पष्ट बताया गया कि करने योग्य कार्य करना, उन्हें फल की अपेक्षा के बिना करना सन्यासी या योगी का लक्षण है। यह भी स्पष्ट घोषित किया गया कि जो मनुष्य कोई कर्म न करके अकर्मण्य एवं आलसी बन कर पहाडों या जंगलों में बैठा रहता है, या जो मनुष्य काषायांबर धारण कर बिना कोई कर्म किये घूमता रहता है, वह सही अर्थ में न सन्यासी है और न योगी। कर्मफल का त्याग और संगराहित्य ही यती के सच्चे चिह्न हैं। इसलिए सच्चे सन्यासी की पहचान उसका आचरण ही है। इस श्लोक में दो बातों का उल्लेख किया गया -

(१) उपयुक्त कर्म ही करना चाहिए।

(२) फल की अपेक्षा के बिना ही कर्म करना चाहिए।

पाप कर्म, धर्मच्युत कर्म, शास्त्र विरोधी कर्म नहीं करना चाहिए। धर्मयुक्त कार्य, पुण्य कार्य एवं शास्त्र सम्मत कार्य ही करना चाहिए। जो साधक ऐसा करेगा वही सच्चा सन्यासी होगा। ऐसा करनेवाला सन्यासी होने पर भी सच्चा गृहस्थ भी है। जो फल सन्यासी पाता है वह फल गृहस्थ भी पाता है। गीता में यह नहीं बताया गया कि सन्यासी बनने के लिए फलानी जात, फलाने वर्ग या फलाने वर्ण का ही होना चाहिए। इतना ही बताया गया कि उपर्युक्त दो सद्गुण (धर्माचरण एवं निष्काम कर्म करना) काफी है।

प्रश्न - सन्यासी कौन है ? योगी कौन है ?

उत्तर - उपयुक्त कार्य फल की अपेक्षा के बिना जो करता है वही सन्यासी है।

अग्निहोत्र छोडनेमात्र से सन्यासी नहीं हो सकता। ऐसे लक्षणवाला ही

योगी है। केवल कर्म त्यागनेवाला योगी नहीं है।

सम्बन्ध - पहले श्लोकमें भगवान्‌ने कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्म करनेवालेको संन्यासी और योगी बतलाया। उसपर यह शंका हो सकती है कि यदि 'संन्यास' और 'योग' दोनों भिन्न-भिन्न स्थिति हैं तो उपर्युक्त साधक दोनोंसे सम्पन्न कैसे हो सकता है ? अतः इस शंकाका निराकरण करनेके लिये दूसरे श्लोकमें 'संन्यास' और 'योग' की एकताका प्रतिपादन करते हैं-

२. ***यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।***
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥

शब्दार्थ - पाण्डव = हे अर्जुन। यम् = जिसे। सन्यासम् इति = सन्यास यह। प्राहुः = कहते हैं। तम = उसे। योगम् (इति) = योग। विद्धि = जान लो। हि = क्यों कि। असंन्यस्त संकल्पः = संकल्प न त्यागनेवाला। कश्चन = कोई। योगी = योगी। न भवति = नहीं हो सकता।

भावार्थ - हे अर्जुन ! जिसको संन्यास ऐसा कहते हैं, उसीको तू योग जान। क्योंकि संकल्पोंका त्याग न करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता।

व्याख्या - ज्ञानयोगी आत्मा अनात्मा का विवेचन कर देह आदि दृश्यपदार्थों से संबंधित संकल्प त्याग कर आत्मा में स्थिर रहता है। कर्मयोगी कर्तृत्व की भावना को त्याग कर फल की अपेक्षा किये बिना "मैं और मेरा" वाला संकल्प त्याग कर अंतर्मुखी होकर परमात्मा का ध्यान करता है।

भक्तयोगी परमात्मा को छोड कर अन्यवस्तुओं में रुचि नहीं लेता। उनसे संबंधित संकल्प त्याग देता है। दैवपरायण बन कर रहता है। इस प्रकार सभी योगों में दृश्य पदार्थ संबंधी संकल्प का त्याग निहित है। सब में दैवी परायणता निहित है। इसीलिए भगवानने इस श्लोक में सन्यास (ज्ञानयोग) और योग (निष्काम कर्मयोग या भक्तियोग) दोनों को एक बताया। भगवानने यह भी स्पष्ट घोषित कर दिया कि जो साधक काम क्रोध आदि संकल्प,

फल की अपेक्षा, दृश्य पदार्थसंबंधी संकल्प नहीं त्यागता वह योगी (ज्ञानयोगी, कर्मयोगी, भक्तियोगी या ध्यानयोगी) नहीं हो सकता। इसलिए संकल्प का त्याग ही सच्चा सन्यास और सच्चा योग है। संकल्पत्याग के बिना केवल कर्ममात्र त्याग कर जो अकर्मण्य बना रहता है वह सन्यासी या योगी कहा नहीं जा सकता।

प्रश्न - सन्यास और योग क्या अलग अलग हैं ?

उत्तर - नहीं। दोनों एक ही हैं। समझना चाहिए कि जो सन्यास कहा जाता है, वही योग है।

प्रश्न - मनुष्य कब योगी बन सकता है ?

उत्तर - जब देह आदि दृश्य पदार्थों से संबंधित संकल्प मनुष्य छोड देगा तब योगी बन सकेगा। उन्हें न छोडे तो वह न योगी बन सकता है और न सन्यासी।

सम्बन्ध - कर्मयोग की प्रशंसा करके अब उसकी आवश्यकता बतलाते हैं -

३. *आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।*
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

शब्दार्थ - योगम् = योग को। (ज्ञानयोग या ध्यानयोग) आरुरुक्षोः = चढना चाहें। मुनेः = मननशील को। कर्म = कर्म। कारणम् = साधन। उच्यते = कहा जाता है। योगारूढस्य = योग पर अधिष्ठित। तस्य एव = व्यक्ति को। शमः = उपरति (कर्मनिवृत्ति)। कारणम् = साधन। उच्यते = कहा जाता है।

भावार्थ - योगमें आरूढ होने की इच्छावाले मननशील पुरुष केलिये योग की प्राप्ति में निष्कामभाव से कर्म करना ही हेतु कहा जाता है और योगारूढ हो जानेपर उस योगारूढ पुरुषका जो सर्वसंकल्पोंका अभाव है वही कल्याणमें हेतु कहा जाता है।

व्याख्या - कहा गया कि ज्ञानयोग या ध्यान योग को साधने के लिए निष्कामकर्मयोग एक साधन है। यह भी कहा गया कि ध्यानयोग या ज्ञानयोग में थोडी सी स्थिरता पानेवाले को उसमें और भी दृढता प्राप्त करने के लिए कर्मनिवृत्तिरूपी शम साधन के रूप में आवश्यक है। इससे स्पष्ट होता है कि ध्यानयोग में प्रवेश पाने के लिए आवश्यक चित्तशुद्धि के लिए निष्काम कर्मयोग के बारे में आरंभ में परिशीलन करना चाहिए। इसके बाद जब ध्यान में थोडी सी स्थिरता आ जाती है तब कर्मानुष्ठान को कम करते हुए, कर्मनिवृत्ति रूपी चित्त की उपरति को बढाना चाहिए।

चित्तशुद्धि पाने तक आरंभ में साधक के लिए निष्काम कर्मानुष्ठान उपयोगी है। ध्यान में प्रवेश कराने के बाद कर्मानुष्ठान वहीं स्थगित हो जाता है। इसके बाद कर्मनिवृत्ति रूपी चित्तोपरति, शम (शांति) उसे और ऊपर (ध्यानारूढ स्थिति तक) ले जाती है। मतलब यह कि तब बाह्य कर्म निवृत्ति संभव होती है और श्रवण, मनन और निधि ध्यान रूपी अंतर के प्रयत्न शुरू होते हैं। तब साधक का मन कर्म कलाप में रुचि नहीं लेता, कर्मनिवृत्ति में ही रुचि लेता है। दृष्टि को बाहर नहीं जाने देता, उसे अंतर्मुखी बना लेता है। चित्त शांति की कामना करता है। वह शम ही ध्यानयोग में धीरे धीरे उसे निस्संकल्प स्थिति प्राप्त करा कर आत्मस्वरूप की अनुभूति तक ले जाता है।

इसलिए आध्यात्मिक क्षेत्र में हर किसी को आरंभ में पुण्य कार्यों का आचरण और निष्काम कर्म का अनुष्ठान अवश्य करना ही पडता है। ऐसा न करें तो हृदय में तमोगुण भर जाता है। आलसी होकर वह जडवत् हो जाता है। ज्ञानयोग तथा ध्यान योग में प्रवेश करने के लिए अयोग्य बन जाता है। फोडे पर दाना निकल जाय तो धीरे धीरे उसी का गिर जाना ठीक है। ऐसा न होकर बीच में हम हस्तक्षेप कर उस दाने को जबर्दस्ती हटा दें तो फोडा और गाढा हो जाएगा और खतरा होगा। इसी प्रकार जब ध्यान में स्थिरता आ जाती है तब कर्म अपने आप ही लुप्त हो जाता है। अपरिपक्व

स्थिति में ही उसे हटा दें तो लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होगी। इसलिए आरंभ में सत्कार्य करते रहना चाहिए। तब चित्त शुद्ध होने लगेगा। ध्यान में स्थिरता आने लगेगी। तब कर्मानुष्ठान को कम करके उपरति (शम) का अवलंबन लेकर आगे बढना चाहिए। मन को अंतर्मुखी बनाना चाहिए। चिंतन, मनन एवं ध्यान आदि करना चाहिए। तब धीरे धीरे साधक ध्यानारूढ होकर आत्मा के स्वरूप का अनुभव पाने लगेगा।

१. आरुरुक्षु - - प्रारंभिक दशा।

२. योगारूढ बनने के लिए प्रयत्नशील - - मध्यम दशा।

३. योगारूढ बनना - - अंतिमदशा।

दो साधकों के बारे में इस श्लोक में बताया गया है। प्रथमदशा में अच्छी तरह अनुभव प्राप्त किये बिना साधक मध्यम दशा में या अंतिम दशा में सफल नहीं हो सकता। बालक प्रारंभिक पाठशाला में विद्या प्राप्त करने के बाद ही उन्नत शाला में भर्ती हो सकता है। इसी तरह आध्यात्मिक क्षेत्र में कदम रखनेवाले में निष्कामकर्म का आचरण करते हुए जब थोडी सी पक्वता आ जाएगी तब उसे कर्मनिवृत्ति का आचरण करना चाहिए। अंतर्मुखी बनेगा तब कर्म का आचरण संभव नहीं होगा। तब कर्म भार सा लगेगा। कर्मनिवृत्ति का मुहूर्त वही है। साधकों को यह विषय अच्छी तरह जान लेना चाहिए।

सम्बन्ध - भगवान अब योगारूढ के लक्षण बताते हैं -

४. यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

शब्दार्थ - यदाहि = जब। इन्द्रियार्थेषु = शब्द आदि विषयों में। न अनुषज्जते = आसक्ति नहीं रखता। कर्मसु = कर्मों में। न (अनुषज्जते) = आसक्त नहीं होता। सर्व संकल्प सन्यासी = सभी संकल्प छोडता है। तदा = जब। योगारूढः = योगारूढ। उच्यते = कहा जाता है।

भावार्थ - जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ कहा जाता है।

व्याख्या - 'यदा, तदा' दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। इससे स्पष्ट है कि जब मनुष्य में उपर्युक्त तीन लक्षण लक्षित होंगे तब उसे योग की सिद्धि होगी। वे तीन लक्षण निम्न प्रकार हैं। (१) इन्द्रियादि से संबंधित शब्द स्पर्श आदि विषयों के प्रति आसक्तिरहित होना। (२) कर्म आदि में आसक्ति का नहीं होना (३) सभी संकल्पों को त्याग देना। साधक योगारूढ है कि नहीं, परिपूर्ण ध्याननिष्ठ है कि नहीं,यह बात इस परीक्षा से आसानी से जानी जा सकती है। जो साधक समझते हैं कि ध्यान एवं योग में पूर्णता पाचुके हैं उन्हें विचार कर देख लेना चाहिए कि क्या इन तीन लक्षणों से मैं युक्त हूँ कि नहीं।

(१) इन्द्रियादि विषयवासनाओं में जो आसक्ति रखते हैं, उनके ध्यान में एकाग्रता नहीं होती। उनके प्रति विरक्ति होने पर ही मन बाहर न दौड कर अंतर्मुखी बन कर एकाग्र हो सकता है। इसीलिए यहाँ कहा गया कि जो विषयवासनाओं के प्रति आसक्त नहीं होता वही योगारूढ हो सकता है।

(२) कर्मों में आसक्ति का न होना - अंतरंग में जब चित्त, आत्मा में स्थिर रहता है तब बाहरी कर्म में उसे रुचि नहीं होती। इन्द्रिय, मन अंतर्मुखी होकर जब उपरति पाते हैं तब कर्म प्रवृत्ति नहीं होती। लेकिन यह साधना की उच्चदशा की बात है। साधना जब पूरी होजाती है और साध्य वस्तु (आत्मा) प्राप्त होती है तब भी कुछ जीवन्मुक्त पुरुष लोकहित के कार्य करते रहते हैं।

(३) तीसरा है सर्व संकल्प त्याग। - संकल्प तीन प्रकार के होते हैं। (१) मलिन संकल्प (२) शुद्ध संकल्प (३) निःसंकल्प (संकल्प राहित्य। साधना के आरंभ में शुद्धसंकल्प से मलिन संकल्पों का निर्मूलन करते रहना चाहिए। अर्थात् शास्त्रों एवं सज्जनों के संपर्क आदि से उत्पन्न

होनेवाले पावन संकल्पों के द्वारा पुराने पाप संपर्कों को धो देना चाहिए। प्रयत्न करना चाहिए कि चित्त में पूर्ण रूप से शुद्ध संकल्प, दैवी संकल्प ही रहें। इसके बाद एक सीढी ऊपर चढ कर प्रयत्न करना चाहिए कि चित्त निःसंकल्प रहे। तब दृश्य पदार्थ संबंधी कोई भी संकल्प चित्त में नहीं रहता। चित्त पूर्णरूप से आत्माकार में होगा। किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि सर्व संकल्प - सन्यास का मतलब शून्य है। क्योंकि तब प्रज्ञारूप आत्मा की चेतनता जागृत होती है। चित्त उसी में लीन होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त तीन लक्षणों का अभ्यास जो साधक करता है वह योगारूढ बनकर अपना जीवन धन्य बनाता है।

प्रश्न - (१) योगारूढ के लक्षण क्या हैं ?

उत्तर - (१) इन्द्रिय संबंधी शब्दस्पर्शादि विषयों में आसक्त न होना।
(२) कर्मों के प्रति आसक्त न होना।
(३) सभी संकल्प त्याग कर मात्र आत्मा में स्थित रहना।

५. *उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।*
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

शब्दार्थ - आत्मना = अपने से। आत्मानं = अपने को। उद्धरेत् = उद्धार करना चाहिए। आत्मानम् = अपने को। न अवसादयेत् = अधोगति में न डाले। हि = क्यों कि। आत्मनः = अपने को। आत्मै व = आप ही। बन्धुः = बन्धु। आत्मनः = अपने को। आत्मैव = आप ही। रिपुः = शतृ।

भावार्थ - अपने द्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले, क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।

व्याख्या - भगवान बताते हैं कि अपना उद्धार आप ही करो। गुरु, शास्त्र

तथा देव रास्ता दिखाते हैं, मगर चलना अपने को ही है। अपने पैरों के बल ही चलना है। अपनी आंखों से देखना है। अपनी भूख आपही मिटानी चाहिए। बडों का कहना है कि "God Helps Those Who Help themselves" अपने उद्धार करनेवालों की ही भगवान सहायता करते हैं। भोग विलासी यह कहे कि मैं मनमाना चलूंगा। भोग विलास का जीवन बिताऊंगा। भगवान मेरी रक्षा करे, तो यह उसकी निरी मूर्खता है। गुरु, शास्त्र एवं देवता अकर्मण्य आलसी लोगों की सहायता नहीं करते। बाजार में कोई चीज खरीदना चाहें तो उसके लिए मूल्य चुकाना पडता है। उस वस्तु की उपयोगिता के अनुसार उसका मूल्य निर्धारित रहता है। इसी प्रकार मोक्ष, दुःख राहित्य, जनन-मरण के बन्ध विच्छेद तथा परमानन्द प्राप्ति की जो इच्छा करता है उसे उसके लिए मूल्य चुकाना पडता है। आलसी के लिए यह संभव नहीं है। त्याग, साधना और इन्द्रियनिग्रह इसके लिए आवश्यक हैं। अध्यात्म साधना का वह मूल्य न चुकावें तो साक्षात् परमात्मा भी जीव की कुछ भी मदद नहीं कर सकता। इसके लिए श्रम करना पडेगा। बडों के दिखाये मार्ग पर चलना पडेगा। अपना उद्धार आप ही को करना पडेगा। इसी सत्य को भगवानने इस श्लोक में बताया है।

कई महात्मा बहुत बडा श्रम करके मुसीबतों का सामना कर शीतोष्णादि द्वंद्वों का सहन करते हुए वर्षों तक कठोर साधना करते रहे। अपने इन्द्रियों एवं चित्त को वश में करके धन्य हुए। इसी तरह अन्य साधकों को भी प्रयत्न करके अपने चित्त को वैराग्य तथा उपरति आदि के द्वारा शुद्ध करना चाहिए। ऐसा शुद्धचित्त ही लोगों को संसाररूपी खाई से बाहर, निकाल सकता है। गुरु सामान्य रूप से परंपरा के अनुसार शिष्य को सब बताता है। परन्तु उसे आचरण में लाने का सारा काम शिष्य को ही करना है। मनुष्य जिस प्रकार बीमार पडने पर दवा लेता है, जिस प्रकार कुछ न कुछ खाकर अपनी भूख खुद मिटाता है, उसी प्रकार भवरोग से पीडित मनुष्य

खुद ही साधना करके तरता है। "उद्धरेदात्मनात्मानम्" का अर्थ यही है।

साधक को चाहिए कि वह अपने आप को अधोगति की ओर जाने न दे। भगवान इस श्लोक में स्पष्ट घोषित करते हैं कि संसार में मनुष्य का उद्धार दूसरा कोई नहीं करता। बन्धु मित्र नहीं करते। शुद्ध मन ही उसका उद्धार करता है। विषयरहित एवं दृश्य संबंधी वासनाओं से दूर रहनेवाले मनुष्य का चित्त ही उसका उद्धारक है। उसका मलिन मन ही उसका पतन कराता है। इसलिए मलिन मन ही उसका शतृ है। मन और इन्द्रिय वश में हों तो वे उसके सच्चे बन्धु बनते हैं। वे यदि वश में न हो तो शतृ बनते हैं। आम तौर पर मन के दो भाग होते हैं। (१) अच्छा भाग (२) बुरा भाग। एक धर्म की ओर खींचता है तो दूसरा अधर्म की ओर खींचता है। इनमें प्रथम के द्वारा द्वितीय को प्रयत्न करके हराना चाहिए उसे धर्म की ओर मोडना चाहिए। यह पुरुष प्रयत्न से ही संभव है। इस प्रकार अपना उद्धार आप ही को करना चाहिए। बन्धु अपने में ही है। शतृ भी अपने में ही है। शुद्धचित्त ही बन्धु है। वश वर्ती मन ही बन्धु है। अतः उसीका आश्रय लेना चाहिए। वह जीव का महोपकार करेगा। इसी तरह मलिन चित्त, स्वच्छन्द मन मनुष्यके शतृ हैं। वे महापकार करते हैं। बाह्य शतृ इस जन्म में ही व्यथा पहुँचाते हैं। परन्तु आंतरिक शतृ जन्म जन्म तक जीव का पीछा कर के उसे व्यथा पहुँचाते हैं। अतः सब से पहले अंतरशतृ का अंत कर लेना चाहिए। तभी जीव को परम शांति मिलेगी।

"उद्धरेत्" - (अपना उद्धार आप ही को करना चाहिए) इससे स्पष्ट है कि कोई भी प्रारब्ध मनुष्य के आडे नहीं आता। अपना उद्धार वह हर हमेशा कर सकता है।

प्रश्न - इस संसार में जीव का उद्धार करनेवाला कौन है ?

उत्तर - अपना उद्धार करनेवाला आप है। खुद अधोगति में न पडे, यह आवश्यक है।

प्रश्न - मनुष्य का बन्धु कौन है ? शतृ कौन है ?

उत्तर - आप ही बन्धु है। आप ही शतृ है। (मन को वश में करे तो बन्धु है, न करे तो शतृ है)

सम्बन्ध - भगवान बताते हैं कि देह और इन्द्रियों को वश में करने से कौन से फल मिलते हैं ?

६. *बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।*
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

शब्दार्थ - येन = जिससे। आत्मनैव = अपने से। आत्मा = मन। जितः = जीता गया। तस्य = उसका। आत्मा = मन। आत्मनः = अपना। बन्धु = बन्धु। अनात्मनस्तु = मन को न जीतनेवाले को। आत्मा = अपना ही मन। शतृवत् = शतृ की तरह। शतृत्वे एक = अपकार में ही। वर्तेता = बरतता है।

भावार्थ - जिस जीवात्माद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, उस जीवात्माका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है; उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें बर्तता है।

व्याख्या - पिछले श्लोक में जो अंश सूक्ष्मरूप से बताया गया वही अंश यहाँ विवरणात्मक ढंग से बताया गया है। मनुष्य के बन्धु और शत्रु दोनों उसीके अंदर बसे हुए हैं। जीता हुआ मन ही मनुष्य का बन्धु है। वह जनन मरण रूपी संसार से मनुष्य की रक्षा करता है। उसे सच्ची शान्ति प्रदान करता है। आत्मा को सच्चिदानन्द प्राप्त कराता है। इस प्रकार जीता हुआ मन जीव का महोपकार करता है। बाह्यबन्धु यद्यपि जीव का थोडा बहुत उपकार करते हैं तथापि स्नेह एवं राग आदि के कारण आध्यात्मिक पथ में कुछ रोडे अटकाते हैं। परन्तु अन्दर का बन्धु वैसा नहीं करता। वह तो संयमित चित्त है। वह मोक्ष प्राप्ति रूपी शाश्वत उपकार ही करता है। इसी प्रकार जो मन

वश में नहीं होता, जीता नहीं जाता वह मन शत्रु का सा ही व्यवहार करता है। वह जीव को संसाररूपी जंगल में डाल देता है। उसे काम क्रोध आदि क्रूर जंगली जन्तुओं का शिकार बना देता है। इस तरह जन्म जन्म तक उसका नाश करता है। इसलिए जीव को प्रयास करके विवेक आदि के द्वारा मन को जीतना चाहिए। शत्रु को मित्र बना लेना चाहिए। मन को जीत कर उसे अपना बन्धु बना लेना चाहिए। फिर मुक्तिधाम पहुँच कर सुखी बनना चाहिए।

'आत्मा' का अर्थ केवल मन ही नहीं, इन्द्रिय एवं शरीर भी हैं।

'आत्मनाजितः' कहा गया। इससे समझना चाहिए कि मन को जीतना परम आवश्यक है।

प्रश्न - मनुष्य का बन्धु कौन है ?

उत्तर - जीता हुआ मन ही उसका बन्धु है।

प्रश्न - मनुष्य का शत्रु कौन है ?

उत्तर - जो मन जीता नहीं जाता वही मनुष्य का शत्रु है।

७. *जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।*
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥

शब्दार्थ - जितात्मनः = जीता हुआ मनवाला। प्रशान्तस्य = परम शांति से युक्त मनुष्य को। शीतोष्ण सुख दुःखेषु = शीतोष्ण, सुख दुःखादि द्वंद्वों में। तथा = वैसे ही। मानावमानयोः = मान अपमान में। परमात्मा = ईश्वर। समाहितः = स्थित हैं।

भावार्थ - सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।

व्याख्या - सामान्यजनों के मन को सुख-दुःख, शीत-उष्ण एवं मान-अपमान के अवसर पर आनंद या व्यथा होती है। तब वह समस्थिति खोता है। चपल बनता है। सुख मिले तो फूला नहीं समाता। दुःख मिले तो कुंठित होता है। कोई तारीफ करे तो खुशी से फूलता है और कोई निन्दा करे तो उदास होता है। इस प्रकार अज्ञानी जीव द्वंद्वों का दास बनता है। उनके कहे अनुसार चलता है। इसीलिए हमेशा अशांत रहता है। परन्तु जो मनुष्य मन को जीतता है उसका हाल ऐसा नहीं होता। द्वंद्वों के बीच पडने पर भी वह प्रशांत एवं स्थिर रहता है। जिस प्रकार उत्तुंग तरंगों तथा तेज हवा के झोंकों से महापर्वत अस्थिर नहीं होता उसी प्रकार सुख-दुःख तथा मान-अपमान मन को जीतनेवाले मनुष्य के हृदय को अस्थिर नहीं कर सकते। वह हमेशा परमात्मा में स्थित रह कर परम शान्ति पाता है। अतः इस श्लोक में कहा गया कि अभ्यास, वैराग्य एवं विवेक आदि के द्वारा इन्द्रिय एवं मन को किसी न किसी तरह जीतना अत्यंत आवश्यक है।

"प्रशान्तस्य" का अर्थ कुछ लोग शीत एवं उष्ण बता कर कहते हैं कि जो मन शीत-उष्ण एवं सुख-दुःख आदि से विचलित न होकर परमशान्त रहता है वह परमात्मा में ही स्थित रहता है। आम तौर पर सब का भाव एक ही है।

प्रश्न - किसका चित्त शीत और उष्ण में निश्चल रहता है ?

उत्तर - जो मनुष्य इन्द्रियों को जीतता है, शांत हृदय से रहता है उसका चित्त शीत और उष्ण में सम रहता है।

प्रश्न - मन की विजय से प्राप्त होनेवाला महानूफल क्या है ?

उत्तर - मन को जीतनेवाला शीत एवं उष्ण आदि द्वंद्वों से विचलित नहीं होता। सदा परमात्मा में ही स्थिर रहता है। फल स्वरूप सदा परमशान्ति पाता है।

८. *ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।*
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥

शब्दार्थ - ज्ञानविज्ञान तृप्तात्मा = ज्ञान विज्ञान से तृप्त । कूटस्थः = निर्विकार । विजितेन्द्रियः = इन्द्रियों को जीतनेवाला । समलोष्टाश्मकाञ्चनः = मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण को समान माननेवाला । योगी = योगनिष्ठ । युक्तः = योगारूढ । इति = ऐसा । उच्यते = कहा जाता है ।

भावार्थ - जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत-प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है ।

व्याख्या - योग का मतलब है मिलन । जीव और ब्रह्म का मिलन । इस प्रकार का प्रयत्न ही योग है । योगी बहुत हैं । परन्तु आरूढ स्थितिवाले उत्तम योगी बहुत कम हैं । ऐसे उत्तम योगियों के लक्षण इस श्लोक में बताये गये हैं । उत्तम योगी की पहचान निम्न लिखित लक्षणों से की जासकती है ।

(१) ज्ञान एवं विज्ञान से तृप्त होना ।

(२) कूटस्थ (निर्विकार) होना ।

(३) इन्द्रियों पर विजय पाना ।

(४) मिट्टी, पत्थर तथा सोना सब को समान मानना ।

ये चार लक्षण साधकों के लिए अत्यंत आवश्यक हैं । अतः इन के बारे में विचार करेंगे ।

(१) गीता में भगवान ने कहीं कहीं पर ज्ञान और विज्ञान को अलग अलग माना । यह उल्लेखनीय बात है । ज्ञान का मतलब है, शास्त्रों, गुरुओं और बड़ों के उपदेशों के द्वारा समझना कि तत्व का रहस्य क्या है ? विज्ञान का मतलब है उस तत्व के रहस्य को आचरण में लाना । पाकशास्त्र के बारे में जानना ज्ञान है तो विज्ञान उस पाकशास्त्र के ज्ञान को अमल में लाकर भोजन तैयार करना है और उसे खाना है । तभी भूख

मिटेगी। दोनों जरूरी हैं। पहले जानना चाहिए कि परमात्मा का तत्व क्या है ? फिर उसका साक्षात्कार करना चाहिए। पहला ज्ञान है तो दूसरा विज्ञान है। ज्यादातर लोग ज्ञान मात्र पाकर तृप्त होते हैं। यह काफी नहीं है। विज्ञान भी पाना चाहिए। इस प्रकार जो ज्ञान और विज्ञान से परिचित होता है वही योगारूढ है। वही उत्तमयोगी है। (संसार में कुछ धन पाकर तृप्त होते हैं तो कुछ अधिकार एवं भोग विलास पाकर तृप्त होते हैं। ये सब छोटेस्तर के लोग हैं। जो व्यक्ति ज्ञान और विज्ञान से तृप्त होते हैं वे ही सर्वोत्तम हैं।)

(२) दूसरा लक्षण कूटस्थतत्व का है। अर्थात् निश्चलता, निर्विकारिता। सुनार अपने परिकरों के द्वारा सोने के कई आभरण बनाता है। परन्तु वे परिकर वैसे ही निर्विकार रहते हैं। इसी तरह जिसका मन सुख-दुःख, मान-अपमान तथा लाभ-नष्ट आदि में निर्विकार रहता है, समस्थिति में रहता है वह कूटस्थ माना जाता है। वही उत्तमयोगी है। इसके अलावा कूटस्थ का अर्थ आत्मा भी कहा जा सकता है। गीता में एक जगह "कूटस्थोऽक्षर उच्यते" कहा गया। ऐसे कूटस्थ आत्मा से जो एकता साधता है वही योगारूढ है।

(३) तीसरा लक्षण विजितेन्द्रियता है अर्थात् इन्द्रिय एवं मन को जीतना। यहाँ 'जितेन्द्रियता' न कह कर 'विजितेन्द्रियता' कहा गया है। इसका अर्थ है इन्द्रियों को भलीभाँति जीतना। वासनाएँ कुछ भी बची रहें तो वे साधक को फिर उत्तेजित कर सकती हैं। इसलिए जो वासनाओं को समूल नष्ट कर इन्द्रिय एवं मन को अपने वश में करलेता है वही विजितेन्द्रिय है। इसके लिए तत्व विचार अच्छी तरह सहायक बन सकता है। इसलिए विवेक एवं वैराग्य आदि के द्वारा इन्द्रियों को संयमित कर योगारूढ बनना चाहिए।

(४) योगारूढ का चौथा लक्षण है समदृष्टि का होना। मिट्टी, पत्थर एवं

सुवर्ण तीनों को समान मानना समदृष्टि है। मिट्टी और पत्थर में समानता देखना सामान्य बात है। परन्तु पत्थर एवं सुवर्ण में समानता देख सकना साधारण बात नहीं है। ऐसी समदृष्टि की प्राप्ति के कुछ उपाय हैं। वे निम्न प्रकार हैं।

(१) इस संसार में सभी पदार्थ पंच भूतात्मक हैं। पेड-पौधे, सूर्य-चन्द्र, देह-गेह, पत्थर-सोना सब पंच भूतात्मक हैं। इस सत्य से परिचित ज्ञानी सभी पदार्थों में परमात्मा का ही दर्शन करता है। सब में समानता का दर्शन करता है।

(२) इस संसार में एक वस्तु को सारवान और एक वस्तु को निस्सार माननेवाला वास्तव में मन ही है। मन ही मिट्टी को साधारण मानता है और सुवर्ण को असामान्य मानता है। शिशु के सामने सुवर्ण को रखने पर वह उसकी परवाह नहीं करता। इसका कारण उसका मन ही है। इसी प्रकार सच्चे ज्ञानी की दृष्टि में मिट्टी, पत्थर एवं सुवर्ण सब बराबर हैं। सभी में वही समानता पाता है।

(३) जो योगी आरूढस्थिति में पहुँचता है, वह ब्रह्म (आत्मा) को ही सत्य और दृश्य जगत् को स्वप्न व मिथ्या मानता है। इसलिए उसकी दृष्टि में छोटा बडा कुछ नहीं रहता। स्वप्न में राजा और रंक जिस तरह समान लगते हैं उसी तरह पत्थर और सुवर्ण सब योगी को समान ही लगते हैं।

(४) आत्मा की प्राप्ति के लिए मिट्टी काम नहीं आती। इसी प्रकार सुवर्ण भी काम नहीं आता। इस सत्य की जानकारी से योगी को वे दोनों समान ही लगते हैं।

प्रश्न - आरूढ स्थिति तक पहुँचनेवाले उत्तम योगी के लक्षण क्या है ?

उत्तर - (१) शास्त्रज्ञान तथा अनुभवज्ञान दोनों से युक्त होकर उनसे तृप्त रहना।

(२) निर्विकार (कूटस्थ) बना रहना।
(३) इन्द्रिय और मन को भलीभाँति जीतना।

९. *सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।*
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

शब्दार्थ - सुहृत् = सुहृद्। मित्र = मित्र। अरि = शत्रु। उदासीन = मध्यस्थ। द्वेष्य = द्वेष्य। बन्धुषु = बन्धु। साधुषु अपि = साधुओं के प्रति। पापेषु च = पापियों में। समबुद्धिः = समानभाव रखनेवाला। विशिष्यते = श्रेष्ठ हैं।

भावार्थ - सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओं में और पापियों में भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।

व्याख्या - इस श्लोक में कहा गया कि उत्तम मनुष्य कौन हैं ? आमतौर पर लोग समझते हैं कि जिसके पास धन है, अधिकार है, सुंदरता है,वही बडा है। परन्तु भगवान का कथन वैसा नहीं है। उनका कथन है कि सभी जीवों के प्रति समबुद्धि बरतनेवाला ही श्रेष्ठ है। उन जीवों में से कुछ का उल्लेख यहाँ किया है। उन्हें तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं।

(१) सुहृद्, मित्र, बन्धु एवं साधु ये चारों एक भाग के अंतर्गत हैं। (२) मध्यस्थ एवं उदासीन, ये दोनों एक भाग के अंतर्गत है। (३) शत्रु, द्वेषी एवं पापी ये तीनों एक भाग के अंतर्गत हैं। इनमें प्रथम भाग के लोग उपकार करनेवाले हैं। द्वितीय भाग के लोग उपकार भी नहीं करते तथा अपकार भी नहीं करते। तृतीय भाग के लोग केवल अपकार ही करनेवाले हैं। प्रथम भाग के लोगों के प्रति सामान्य जन प्रेम भाव रखते हैं। द्वितीय भाग के लोगों के प्रति तटस्थ भाव रखते हैं। तृतीय भाग के लोगों के प्रति द्वेष भाव रखते हैं। परन्तु उत्तमयोगी की दृष्टि में ये तीनों समान ही होते हैं। परन्तु अधम व्यक्ति किसी मनुष्य को देख कर सोचता है कि यह काला है या गोरा है ? नाटा है या मोटा है ! इस तरह अधम की दृष्टि व्यक्ति की देह तक सीमित

होती है। मध्यम व्यक्ति किसी मनुष्य को देख कर सोचता है कि यह शिक्षित है या नहीं। बुद्धिमान है या नहीं। यह मन की दृष्टि है। परन्तु उत्तम व्यक्ति किसी भी व्यक्ति की आत्मा के ही दर्शन करता है। उसकी अपनी आत्मदृष्टि होती है। सभी भूतों में एक आत्मा को ही वह देखता है। अनेकता में एकता के ही वह दर्शन करता है। अत: ऐसा योगी ही इस श्लोक में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। इसलिए हर मनुष्य को चाहिए कि वह देहदृष्टि और मन की दृष्टि को त्याग दे, केवल आत्मदृष्टि को ही अपनावे। तभी उसे समदृष्टि प्राप्त होती है और वह सर्वोत्तम बनता है।

प्रश्न - मनुष्यों में उत्तम कौन है ?

उत्तर - शत्रु, मित्र एवं उदासीन के प्रति जो समबुद्धि रख सकता है वही उत्तम है।

१०. योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थित: ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रह: ॥

शब्दार्थ - योगी = योगी। रहसि = एकांत प्रदेश में। स्थित: = स्थित। एकाकी = अकेले रह कर। यत चित्तात्मा = मन इन्द्रियों सहित शरीर को वश में रखनेवाला। निराशी: = आशारहित। अपरिग्रह: = संग्रह रहित। सततम् = सदा। आत्मानम् = मन को। युञ्जीत = आत्मा में स्थित करना चाहिए।

भावार्थ - मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वश में रखनेवाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थान में स्थित होकर आत्मा को निरन्तर परमात्मा में लगावे॥

व्याख्या - यहाँ से भगवान ध्यान और अभ्यास के बारे में विवरणात्मक ढंग से बताते हैं। यहाँ जानना चाहिए कि योगी का मतलब पूर्णता प्राप्त करनेवाला नहीं, परमार्थ का साधक मात्र है। ध्यान का अभ्यासी है। ध्यान

में परिपक्क बनने के पाँच नियम बताये गये हैं।

(१) एकांत स्थल का सेवन (२) अकेले ध्यान करना (३) इन्द्रिय, मन और देह को नियंत्रण में रखना (४) आशा रहित होना (५) वस्तुओं का ग्रहण न करना। इन पाँच नियमों का पालन करते हुए साधक को आत्म ध्यान में ही सदा समय बिताना चाहिए।

"रहसि" - ध्यान करते समय साधक को बहिरंग प्रदेश में बैठना नहीं चाहिए। इससे ध्यान में अवरोध पडेगा। वास्तव में ध्यान दिखाने के लिए नहीं है। ध्यान तो जीव एवं ब्रह्म का संबंध है। इसीलिए यहाँ एकांतस्थल में ध्यान की बात कही गयी है। यही वजह है कि पुराने जमाने में ऋषि, मुनि, योगी एवं तपस्वी जंगलों, पर्वतों, गुफाओं तथा नदी के तटों पर बैठ कर ध्यान तथा अनुष्ठान करते रहे। सहज प्राकृतिक वातावरण ने भी उनका साथ दिया। परन्तु गृहस्थों को अपने गृह में ही ऐसे वातावरण की व्यवस्था करनी चाहिए। एक कमरे में परमात्मा में चित्त रख कर उसे शुद्ध रखना चाहिए। किसी को उसमें आने नहीं देना चाहिए। तब वह भी एकांतस्थल बन सकता है। "रहसि" शब्द का अर्थ पर्वत की गुफा, नदी का तट तथा जंगल लें तो नब्बे फीसदी गृहस्थ लोगों के लिए ऐसे ध्यान स्थल का आश्रय लेना संभव नहीं है। अत: घर में ही व्यवस्था कर लेनी चाहिए। ऐसे एकांतस्थल पर पाँच दस लोगों को मिल कर ध्यान नहीं करना चाहिए। अकेले ही ध्यान करना चाहिए। इसीलिए एकाकी कहा गया है। चार पाँच मिल कर ध्यान करना शुरू करें तो गपशप शुरू होकर ध्यान भंग होगा। अत: एकांत स्थल पर अकेले ही बैठ कर ध्यान में लीन होना चाहिए। विवेक एवं वैराग्य के द्वारा इन्द्रियों को वश में कर लेना चाहिए। दृश्य पदार्थों के प्रति आशा छोडनी चाहिए। नहीं तो आशा मन और बुद्धि को भ्रष्ट कर देगी। ऐसे ध्यान योगी को दूसरों से कोई भी वस्तु स्वीकार नहीं करनी चाहिए। इससे मन की एकाग्रता भंग होगी। इसीलिए साधक के लिए अपरिग्रह का नियम अनिवार्य बनाया गया।

इस तरह उपर्युक्त पाँच नियमों का पालन करते हुए साधक को सदा अपने चित्त को आत्मा में स्थिर कर लेना चाहिए। यहाँ सततं कहा गया है। अत: साधक को निरंतर जागरूक रह कर ध्यान में लीन रहना चाहिए। हमेशा जागृत रहें तो चोर अन्दर प्रवेश नहीं कर सकते। दीप हमेशा जलता रहे तो अंधेरा अंदर प्रवेश नहीं कर सकता।

प्रश्न - योग के अभ्यासी को किन नियमों का पालन करना चाहिए?

उत्तर - (१) एकांत स्थल का आश्रय लेना चाहिए।

(२) एकाकी होकर ध्यान करना चाहिए।

(३) देह, मन तथा इन्द्रियों को वश में कर लेना चाहिए।

(४) आशा रहित रहना चाहिए।

(५) अपरिग्रह नियम का पालन करना चाहिए।

प्रश्न - ऐसे नियमों का पालन करते हुए साधक को क्या करना चाहिए ?

उत्तर - अपने चित्त को सदा आत्मा में स्थिर करना चाहिए अर्थात् आत्मध्यान में लीन रहना चाहिए।

सम्बन्ध - जितात्मा पुरुष को ध्यानयोग का साधन करने के लिये कहा गया। अब उस ध्यानयोग का विस्तार-पूर्वक वर्णन करते हुए पहले स्थान और आसन का वर्णन करते हैं।

११. शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मन: ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥

१२. तत्रैकाग्रं मन: कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रिय: ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥

शब्दार्थ - शुचौ = शुद्ध। देशे = स्थल पर। नात्युच्छितं = जो बहुत ऊँचा न हो। नातिनीचम् = जो बहुत नीचा न हो। चैलाजिनकुशोत्तरम् = नीचे

दर्भासन, उस पर चर्म, उस पर वस्त्र हो। स्थिरम् = स्थिर हो। (ऐसा) आसन = आसन। आत्मनः = अपने लिए। प्रतिष्ठाप्य = स्थापित कर। तत्र आसने = उस आसन पर। उपविश्य = बैठ कर। मनः = मन को। एकाग्रम् = एकाग्र। कृत्वा = करके। यत चित्तेन्द्रिय क्रियः = इन्द्रिय एवं मन के व्यापार को रोक कर। आत्म विशुद्धये = आत्मशुद्धि के लिए। योगम् = परमात्मा के ध्यान का। युञ्ज्यात् = अभ्यास करना चाहिए।

भावार्थ - शुद्ध भूमिमें, जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है और न बहुत नीचा, ऐसे अपने आसन को स्थिर स्थापन करके उस आसन पर बैठ कर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि ध्यान करते समय कहाँ और कैसे बैठना चाहिए। क्या करना चाहिए। भगवद्गीता का बडप्पन इसी में है। साधक के लिए आवश्यक हर छोटी एवं बडी बात का विवरण गीता में बताया गया है। पहले बताया गया कि ध्यान में बैठने का स्थल परिशुद्ध होना चाहिए। शुचौदेशे कहा गया। इससे स्पष्ट है कि ध्यान के लिए किसी भी देश जाने की जरूरत नहीं है। स्थल परिशुद्ध हो तो काफी है। एकांत एवं स्थल की शुद्धता पर भगवान ने अधिक ध्यान दिया। यह उल्लेखनीय बात है। कुछ लोगों के ख्याल में स्थल की जगह मन का महत्व अधिक है। परन्तु हमें ध्यान दैना चाहिए कि वातावरण साफ सुथरा हो तो मन ऊर्ध्वगामी बन सकता है। स्थल मलिन हो तो उसका प्रभाव मन पर अवश्य पडता है। महापुरुष अपने मन, शरीर, वाणी एवं वासस्थल को भी शुद्ध एवं पवित्र रखते हैं। शुद्धता उनके हर व्यवहार में प्रतिबिंबित रहती है। अतः साधकों को चाहिए कि वे अपने ध्यान-केन्द्र को शुद्ध रखें। गोबर से लीप कर उसे पवित्र रखें।

भगवान ने कहा है कि ध्यानी के बैठने का आसन ऊँचा न हो, नीचा भी न हो। ऊँचा रहे तो ध्यान में लीन साधक नीचे गिर सकता है। नीचा रहे तो पानी वहाँ जमा हो सकता है। कीडे मकोडे भी वहाँ आ सकते हैं। इससे ध्यान भंग हो जाएगा। इसलिए उपयुक्त आसन लगाने को कहा गया है। खाली जगह पर बैठना ठीक नहीं। वह जगह खुरदुरा रहे तो साधक को बैठने में तकलीफ होगी। इसलिए कहा गया कि खाली जगह पर जहाँ साधक ध्यान करने के लिए बैठता है वहाँ दर्भासन लगा कर, उस पर मृगचर्म या व्याघ्रचर्म बिछावे और उस पर कपडा बिछावे। ऐसे आसन पर बैठ कर साधक को ध्यान करना चाहिए। यह जरूरी है कि आसन जरा भी न हिले। इससे ध्यान अच्छी तरह चलेगा। गीताचार्य ने आसन का विवरण न बता कर इतना ही कहा कि स्थिरासन हो। मतलब यह कि पद्मासन, सिद्धासन या और कोई भी अनुकूल आसन साधक लगा सकता है, बशर्ते कि वह बडी देर तक उस आसन की मुद्रा में स्थिर बैठ सके। पतञ्जली ने भी इस बारे में कहा कि "स्थिर सुखमासनम्"।

इस प्रकार आसन लगा कर साधक को चाहिए कि इन्द्रियों और मन की प्रवृत्तियों को बाहर की ओर जाने न दे, उन्हें अन्तर्मुखी बना ले और परमात्मा के ध्यान में लीन कर ले। मन को परमात्मा में एकाग्र करे। इस एकाग्रता की बहुत बडी शक्ति होती है। वह महान शक्ति अज्ञान के पर्दे को भस्म कर देती है। इस तरह मन को एकाग्र कर अन्त:करण की शुद्धि के लिए ध्यान शुरू करना चाहिए। हृदय की निर्मलता तथा अन्त:करण की शुद्धता आत्म साक्षात्कार के लिए अत्यावश्यक है। निर्मल हृदय में ही आत्मोदय हो सकता है।

इस श्लोक में 'अजिन' कहा गया। इसका अर्थ हिरन या मृग को मार कर चर्म ले आना नहीं है। मरे हुए जानवरों के चर्म का उपयोग किया जा सकता है। नहीं तो हिंसा का दोष लग सकता है।

प्रश्न - ध्यान के अभ्यासी को किन पद्धतियों पर ध्यान देना चाहिए ?

उत्तर - (१) ध्यान के लिए निर्मल स्थल की खोज करनी चाहिए। अपने निवास स्थल को साफ एवं शुद्ध रखना चाहिए।

(२) बहुत ऊँचे या बहुत नीचे बैठना नहीं चाहिए।

(३) बैठते समय नीचे दर्भासन लगा कर उस पर चर्म बिछाना चाहिए। उस चर्म पर कपडा बिछाना चाहिए।

(४) आसन स्थिर रहे यह जरूरी है। उसी मुद्रा में आसन पर बैठना चाहिए जिसमें बडी देर तक साधक बैठा रह सके।

(५) इन्द्रिय एवं मन को संयम में रखना चाहिए।

(६) मन को एकाग्र रखना चाहिए।

प्रश्न - यह ध्यान क्यों करना चाहिए?

उत्तर - हृदय की शुद्धता, अन्तःकरण की निर्मलता के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करने केलिए इस प्रकार का ध्यान करना चाहिए।

१३. समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥

१४. प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

शब्दार्थ - कायशिरोग्रीवं = शरीर, सिर, कंठ। समम् = समान। अचलम् = अचल। धारयन् = धारण कर। स्थिरः = स्थिर रह कर। दिशः च = दिशाओं को भी। अनवलोकयन् = न देख कर। स्वम् = अपने। नासिकाग्रम् = नासिका के अग्रभाग पर। संप्रेक्ष्य = दृष्टि जमा कर। प्रशान्तात्मा = प्रशांत अन्तःकरणवाला। विगत भीः = भय रहित। ब्रह्मचारिव्रते = ब्रह्मचर्य व्रत में। स्थितः = स्थित होकर। मनः = मन को। संयम्य = भली भांति संयमित कर। मच्चित्तः = मुझमें चित्तवाला। मत्परः = मेरे परायण। युक्तः =

समाधियुक्त। आसीत् = रहना चाहिए।

भावार्थ - काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर, अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि ध्यान करनेवालों को आसन जमाकर शरीर, सिर तथा कंठ तीनों को समान रखना चाहिए झुकना नहीं चाहिए। क्यों कि वे तीनों जब झुके बिना समान रहेंगे तभी सुषुम्ना नाडी के द्वारा कुंडलिनीशक्ति अविच्छिन्न रूप से सहस्रार तक प्रवाहित होगी। तभी साधक को पारमार्थिक विशेषताओं की अनुभूति होगी। सिपाही जिस तरह कवायद् करते समय अपने शरीर एवं अवयवों को समान रखते हैं उसी तरह साधक को ध्यान के अवसर पर अपने शरीर कंठ एवं सिर को समान रखना चाहिए। 'स्थिरः' कहा गया। इसलिए ध्यान के समय बीच बीच में न उठ कर ध्यान की समाप्ति तक निश्चल रूप से बैठ कर, किसी भी तरफ बिना देखे ध्यान में लीन होना चाहिए। साधक चारों तरफ देखने लगेगा तो उसका ध्यान बिखर जाएगा। अतः दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर टिका कर ध्यान में लीन होना चाहिए। इसे भूचरी मुद्रा कहते हैं। इस तरह करने से मन स्थिर एवं निश्चल रहता है। कुछ लोग दृष्टि को भृकुटियों के बीच टिकाते हैं। कुछ लोग हृदय पर और कुछ लोग सहस्रार पर दृष्टि टिका कर ध्यान करते हैं। आंखें खोल कर ध्यान नहीं करना चाहिए। इससे मन बाहरी वस्तुओं पर केन्द्रित होगा। आंखें मूंद कर ध्यान नहीं करना चाहिए। इससे नींद आसकती है। इसलिए अर्ध निमीलित नेत्रों से बैठ कर ध्यान में लीन होने का अभ्यास करना चाहिए। भगवानने ध्यान को स्थिर रखने के लिए ही शायद आँख के लिए

'पलकों' का प्रबन्ध किया। यह एक तरह से आंख का दरवाजा है। दूसरे किसी भी अवयव के लिए इस प्रकार का दरवाजा नहीं है। सब भगवान की कृपा है। ध्यान में लीन होकर दृष्टि को बाहर से मोड कर अन्तर की तरफ उन्मुख करना चाहिए। परमात्मा को ही अपना सर्वस्व मानना चाहिए। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि मुझ पर ही चित्त लगा कर मुझमें ही चित्त को लीन करना चाहिए। वास्तव में भगवान श्रीकृष्ण सब के हृदयों में बुद्धि के साक्षी के रूप में आत्मा बन कर विराजमान हैं। इसलिए उस आत्मा रूपी भगवान का ध्यान करना चाहिए। यहाँ बताया गया कि ध्यानी के चार सद्लक्षण होने चाहिए। वे निम्न प्रकार हैं। (१) प्रशांत चित्तता (२) निर्भयता (३) ब्रह्मचर्यव्रत (४) मन का संयमन। समुद्र जिस प्रकार शान्त और गंभीर रहता है उसी प्रकार साधक के अंतःकरण को रहना चाहिए। यहाँ 'शान्तात्मा' न कह कर 'प्रशान्तात्मा' कहा गया। इससे स्पष्ट है कि चित्त में प्रशांति व्याप्त रहनी चाहिए। साधक के हृदय निर्भीक रहे, यह अत्यंत आवश्यक है। दृश्य पदार्थ सब मिथ्या हैं। अतः किसी से डरने की कोई जरूरत नहीं है। सब कुछ आत्म स्वरूप ही है। अतः किसी से डरने की जरूरत नहीं है। परन्तु जब जीव आत्मस्वरूप को भूल कर दृश्य जगत् को सत्य मानता है तब भय उसे सताता है। श्रुति-वाक्य इसी सत्य को प्रकट करते हैं। जैसे यदाह्येवैष एतस्मिन्नुदर मन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति (२) द्वितीयाद्वै भयं भवति। आरंभ में निर्भीकता की प्राप्ति संभव नहीं, परन्तु वैराग्य एवं तत्व चिंतन के अभ्यास से धीरे धीरे निर्भीकता प्राप्त होती है। तब चित्त ध्यान में लीन होता है। इसीलिए 'विगतभीः' कहा गया है। अर्थात् ध्यानी के लिए निर्भीक होना अत्यंत आवश्यक कहा गया है।

ध्यानी के लिए ब्रह्मचर्यव्रत का पालन जरूरी है। ब्रह्मचर्यव्रत के पालन से साधक को शारीरिक एवं मानसिक शक्ति प्राप्त होती है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्म में विचरना। परन्तु आजकल उसका प्रचलित अर्थ काम

संबंधी चेष्टाओं तथा संकल्पों से दूर रहना हो गया है। गृहस्थों के लिए गृहस्थ-ब्रह्मचर्य का निर्णय किया गया है। ब्रह्मचर्य व्रत को केवल शरीर तक ही सीमित न कर मन, बुद्धि, वाक् एवं अंतःकरण के लिए भी लागू करना चाहिए। ब्रह्मचर्य का फल महान् है। आज तक जितने भी महात्मा हुए, देवदूत हुए वे सब ब्रह्मचर्यव्रत के पालनहार हैं। जिस प्रकार तेल के अभाव में दीप की बत्ती नहीं जलती उसी प्रकार वीर्य के अभाव में ज्ञान की बत्ती नहीं जल सकती। वीर्य ही ओज है। वह दिल और दिमाग को स्फूर्ति एवं तेज प्रदान करता है। रक्त की कई बूंदें एक वीर्य कण के निर्माण में सहायक बनती हैं। इसलिए वह शरीर के लिए परम आवश्यक है। ऐसे मूल्यवान वस्तु को विषय लालसाओं में व्यर्थ करना मूर्खता है। उसका उपयोग ध्यान के लिए करना चाहिए। ब्रह्मचर्य का महत्व बहुत ज्यादा है। इसीलिए गीता में उसे व्रत कहा गया। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य का व्रत सर्वश्रेष्ठ है। व्रत का अनुष्ठान जिस पवित्र भावना से किया जाता है उसी भावना से ब्रह्मचर्यव्रत का भी पालन करना चाहिए।

इस प्रकार साधक को उपर्युक्त सभी उत्तम साधनों का उपयोग कर मन को संयमित करना चाहिए। फिर उसे आत्मा में स्थित करना चाहिए। तब साधक आत्मध्यान परायण बन सकेगा। 'मच्चित्त मत्परः' कहा गया। इससे स्पष्ट है कि ध्यानयोगी को किसी दूसरी वस्तु का चिंतन नहीं करना चाहिए। भगवान का ही चिंतन करना चाहिए और भगवान में ही मन को लीन करना चाहिए।

प्रश्न - ध्यान करनेवाले को आसन पर किस तरह बैठना चाहिए ?

उत्तर - शरीर, कंठ एवं सिर को समान रूप से रख कर हिले बिना आसन पर स्थिर होकर बैठना चाहिए।

प्रश्न - दृष्टि को कहाँ स्थिर करना चाहिए ?

उत्तर - नासिका के अग्रभाग पर स्थिर करना चाहिए।

प्रश्न - ध्यानी को किन नियमों का पालन करना चाहिए ?

उत्तर - (१) प्रशांत चित्त होना चाहिए (२) निर्भीक रहना चाहिए (३) ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना चाहिए (४) मन को संयमित करना चाहिए।

प्रश्न - इसके बाद क्या करना चाहिए ?

उत्तर - आत्मा में चित्त को स्थित कर आत्मपरायण बनना चाहिए। आत्मध्यानी बन कर आत्मरूप होना चाहिए।

सम्बन्ध - उपर्युक्त प्रकार से किये हुए ध्यानयोगके साधनका फल बतलाते हैं-

१५ *युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।*
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥

शब्दार्थ - नियतमानसः = वश में किये हुए मनवाला। योगी = योगी। सदा = हमेशा। एवम् = इस तरह। आत्मानं = मन को। युञ्जन् = आत्मध्यान में लगा कर। मत्संस्थान् = मुझ में रहनेवाली। निर्वाणपरमां = उत्कृष्ट मोक्ष रूपिणी। शान्तिम् = शांति को। अधि गच्छति = पाता है।

भावार्थ - वशमें किये हुए मनवाला योगी इस प्रकार् आत्माको निरन्तर मुझ परमेश्वरके स्वरूप में लगाता हुआ मुझ में रहनेवाली परमानन्दकी पराकाष्ठारूप शान्तिको प्राप्त होता है।

व्याख्या - इस प्रकार ध्यान करते रहने से जो फल मिलेगा उसका स्पष्टीकरण इस श्लोक में किया गया है। इससे साधक को परम शांति मिलती है। साक्षात् परमात्मा में वास करने की शक्ति साधक को मिलती है। भोग जनित शांति या सुख क्षणिक होते हैं। इसीलिए महात्माओंने अपने ही हृदय का शोधन कर आत्मचिंतन के द्वारा परमशांति प्राप्त की। ऐसी शांति की प्राप्ति के लिए बताया गया कि मनोनिग्रह और सतताभ्यास आवश्यक हैं। माया

को जीतने के लिए सतताभ्यास की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। इन्द्रिय और मन को विषय वासनाओं की ओर जाने से रोक कर उन्हें धीरे धीरे अपने वश में कर लेना चाहिए। फिर अंतर्मुखी बन कर आत्मध्यान में लीन होना चाहिए। तभी परमशांति रूपी फल प्राप्त होगा। विषय त्याग और अविद्या त्याग से मोक्ष रूपी फल मिलेगा।

प्रश्न - ध्यानयोग का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर - जीव परमशांति पाता है। यही प्रयोजन है।

प्रश्न - उस शांति का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - वह मोक्षरूप है। परमात्मा में स्थित है। वह परमात्मा का ही स्वरूप है।

प्रश्न - ऐसे उत्तम फल की प्राप्ति के लिए कैसे साधनों की आवश्यकता है ?

उत्तर - (१) मन को वश में करनेवाले।
(२) निरंतर आत्मध्यान का अभ्यास करनेवाले साधकों की आवश्यकता है।

सम्बन्ध - ध्यानयोग का प्रकार और फल बतलाया गया; अब ध्यानयोग के लिये उपयोगी आहार, विहार और शयनादिके नियम किस प्रकारके होने चाहिये यह जानने की आकांक्षापर भगवान् उसे दो श्लोकों में कहते हैं -

१६. नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

शब्दार्थ - अर्जुन = हे अर्जुन ! योगः = योग। अति अश्नतस्तु = बहुत खानेवाले को। न अस्ति = प्राप्त नहीं होता। एकान्तम अनश्नतः च = कुछ भी न खानेवाले को। न = प्राप्त नहीं होता। अति स्वप्नशीलश्य च = सदा जागनेवाले को। नै व = प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ - हे अर्जुन ! यह योग बहुत खानेवाले को और बहुत शयन करने

के स्वभाववाले को और सदा जागनेवाले को प्राप्त नहीं होता।

व्याख्या - ध्यान योग के सहायक हैं आहार और विहार। उनके बारे में यहाँ बताया गया। योग का अर्थ भगवान तक पहुँचानेवाला कोई भी मार्ग कहा जा सकता है। परन्तु यहाँ ध्यानयोग चर्चित विषय है। फिर भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि आहार-विहार सभी योगों के आचरण के लिए उपयोगी हैं। कहा गया कि ज्यादा भोजन करनेवालों के लिए ध्यान संभव नहीं है। मिताहारियों के लिए ध्यान संभव है। (कहा जाता है कि मिताहारी के पेट का आधा भाग अन्न से, सवा भाग पानी से भरा रहता है और सवा भाग हवा आदि के लिए खाली रहता है।) कुछ लोग समझते हैं कि पारमार्थिक मामले में आहार का महत्व कम है। इसीलिए वे उसकी उपेक्षा करते हैं। परन्तु भगवान श्रीकृष्णने उसे बडा महत्व दिया।कहा कि पारिमार्थिक मामले में आहार-विहार का बडा महत्व है। इसलिए गीता में कई जगहों पर उसका उल्लेख किया। छोटा सा कीला ढीला पड जाय या टूट जाय तो जिस तरह यंत्र काम नहीं करता उसी प्रकार आहार का मामला ठीक न रहे तो मोक्ष की साधना के लिए शरीर अनुकूल नहीं रहता। सारे जीवन को आहार और निद्रा नामक दो जोर हडप रहे हैं। अविवेकी आमतौर पर इन दोनों के लिए जीवन बिता देते हैं। पर यह ठीक नहीं। जीवन का लक्ष्य इन दोनों के लिए व्यर्थ गँवाना नहीं है। यद्यपि आहार और निद्रा दोनों मनुष्य के लिए आवश्यक हैं तथापि उनकी एक सीमा होनी चाहिए। यह आवश्यक है कि वह ज्यादा भी न हो और कम भी न हो। यह बात भगवानने यहाँ दो श्लोकों के द्वारा स्पष्ट किया।

ज्यादा भोजन करते रहने से शरीर भारी होकर मस्त बनता है। इससे ध्यान में लीन होना संभव नहीं होता। समं काय शिरो ग्रीवं संभव नहीं। जबर्दस्ती बैठने पर नींद आजाती है। नींद न आये तो भी उदर भारी होवे तो सदा उसीका ख्याल आता रहता है। ध्यान करते हुए देह, इन्द्रिय तथा मन

को पार कर आत्मा तक पहुँचना है। ऐसी स्थिति में देह की चिंता साधक को पकड ले तो वह वहीं रुक जाएगा। इस तरह अधिक आहार ध्यानी के मार्ग में बाधक बनता है। अतः मिताहार साधक के लिए ठीक रहता है। कुछ भी न खावें तो ध्यान सही तरीके से चल नहीं पाता। क्यों कि आहार से ही शरीर और मन बनते हैं। आहार के अभाव में वे दुर्बल बन जाते हैं। बैठने और ध्यान करने के लिए क्षीण शरीर लायक नहीं रहता। इसलिए ध्यानयोगी को उपवास आदि ज्यादा नहीं करना चाहिए। स्वास्थ्य की रक्षा के लिए पक्ष में एक दिन (एकादशी आदि तिथियों में) उपवास किया जा सकता है। अतः अधिक आहार न लेकर मिताहारी बन कर जो ध्यान करते हैं वे अपने प्रयास में सफलता प्राप्त करते हैं।

इसी प्रकार निद्रा के बारे में भी साधक को सतर्क रहना चाहिए। अधिक निद्रा तथा कम निद्रा दोनों ठीक नहीं हैं। मित निद्रा से योग ठीक तरह से चलेगा। शरीर के निर्माण के निमित्त थोडा सा आराम हर दिन आवश्यक है। अतः भगवान बताते हैं कि आहार एवं निद्रा के बारे में साधक को सतर्क रहना चाहिए। मित आहार एवं मित निद्रा के द्वारा आध्यात्मिक साधना में जीव को आगे बढना चाहिए।

प्रश्न - ध्यानयोगी को आहार एवं निद्रा में कैसा व्यवहार करना चाहिए ?

उत्तर - अधिक आहार तथा अधिक निद्रा दोनों से ध्यान योगी को बचना चाहिए। मिताहार तथा मितनिद्रा ध्यानयोगी के लिए आवश्यक हैं।

१७. युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

शब्दार्थ - युक्ताहारविहारस्य = उपयुक्त आहार लेनेवाले एवं बर्ताव करने-वाले। कर्मसु = कर्म में। युक्त चेष्टस्य = उपयुक्त चेष्टा करनेवाले। युक्तस्वप्नावबोधस्य = यथायोग्य सोने तथा जागनेवाले। योगः = योग। दुःखहा = दुःख का नाश करनेवाला। भवति = होता है।

भावार्थ - दुःखों का नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवाले को, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करनेवाले को और यथायोग्य सोने तथा जागनेवाले को ही सिद्ध होता है।

व्याख्या - पिछले श्लोक में बताया गया कि योगी को आहार और निद्रा के बारे में कैसे बरतना चाहिए। यहाँ बताया गया कि बाकी क्रियाओं और व्यवहारों में उसे कैसे बरतना चाहिए। स्पष्ट बताया गया कि आहार, निद्रा, जागरण तथा कर्म आदि में योगी को मित रहना चाहिए। इससे योगी का दुःख दूर होगा। ये मित न हों अमित हों तो योगी का दुःख बढ जाएगा। अतः कोई साधक साधना में सफल नहीं होता या उसका दुःख दूर नहीं होता या बढ जाता है तो इसका कारण साधना की पद्धति का दोष ही है। योग का दोष नहीं है। दवा अच्छी हो तो भी सीमा के अन्दर रह कर ही उसका सेवन करना चाहिए। तब उसका असर होगा। कुछ साधक अति उत्साह से योग करना शुरू कर बीच में अस्वस्थ होते हैं और समझते हैं कि यह योग का दोष है। योग दुःख हरनेवाला है न कि दुःख देनेवाला। यदि योग में कभी कहीं दुःख होता है तो वह योग के कारण नहीं, साधना की पद्धति के दोष के कारण होता है।

दीप की बत्ती को सीमा में रखें तो रात भर जल कर उजाला देती है। ऐसा न करके बत्ती को बहुत छोटी कर दें तो जल्दी बुझ जाती है। बढा दें तो जल्दी समाप्त होकर प्रकाश नहीं देती। अतः साधना में मित रहना आवश्यक है। इतिहास बताता है कि बुद्ध देवने आहार लेना बन्द कर दिया तो शरीर क्षीण हो गया। तब वे मिताहार लेने लगे तो साधना में उन्हें सुविधा हुई। अतः साधक को अच्छी तरह याद रखना चाहिए कि अति सर्वत्र वर्जयेत्। इससे स्पष्ट है कि जो साधक दुःख दूर करना चाहता है उसे आत्मध्यान का आश्रय लेना चाहिए। आहार विहार आदि में संयम से काम लेना चाहिए।

प्रश्न - योग का फल क्या है ?

उत्तर - दुःखराहित्य योग का फल है।

प्रश्न - किन नियमों के अनुसार योग का आचरण करना चाहिए ?

उत्तर - (१) मिताहार (२) मित विहार (३) मित कर्म (४) मित निद्रा (५) मित जागरण। इन नियमों का पालन करना चाहिए।

प्रश्न - दुःख निवारण का उपाय क्या है ?

उत्तर - योग (दैवध्यान - आत्म चिंतन) दुःख निवारण का उपाय है।

सम्बन्ध - ध्यानयोग में उपयोगी आहार-विहार आदि नियमोंका वर्णन करनेके बाद, अब निर्गुण निराकार के ध्यानयोगी की अन्तिम स्थितिका लक्षण बतलाते हैं -

१८. यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥

शब्दार्थ - यदा = जब। चित्तम् = मन। विनियतं = वश में किया हुआ। आत्मनियेव = आत्मा में ही। अवतिष्ठते = स्थित होता है। (यदा = जब। योगी = योगी।) सर्वकामेभ्यः = सभी कामनाओं से। निस्पृहः = स्पृहा रहित। (रहता है।) तदा = तब। युक्तः = योग युक्त। उच्यते = कहा जाता है।

भावार्थ - अत्यन्त वश में किया हुआ चित्त जिसकाल में परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, उस काल में सम्पूर्ण भोगोंसे स्पृहारहित पुरुष योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि योग की सिद्धि कब होगी। पहले कई जगहों पर बताया गया कि योग सिद्धि के लिए काल की कोई सीमा नहीं है। जब साधक सर्व कामनाओं से रहित होगा, मन को वश में कर लेगा, और आत्मस्थिति प्राप्त करेगा तब वह मोक्ष का भागी बनेगा। इन तीन् लक्षणों को वासनाक्षय, मनोनाश तथा तत्वज्ञान कहते हैं। ये तीनों एक दूसरे की सफलता में योग देते हैं।

(१) ''निस्पृहः सर्व कामेभ्यो'' -

कामनाएँ जीव को बांधनेवाली जंजीरें हैं। विषय वासनाओं के प्रति जीव जब आकर्षित होगा तब उसका चित्त चंचल एवं चपल बन जाएगा। तब ध्यान ठीक तरह से नहीं चलेगा। लकडी हटा दें तो आग जैसे बुझ जाती है उसी तरह विवेक एवं वैराग्य के द्वारा एक एक कामना एवं विषय वासना को हृदय से हटा दें तो मन अपने आप आत्मा में स्थित होगा।

''सर्वकामेभ्यः'' कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि कुछ कामनाएँ या वासनाएँ दूर हों तो काफी नहीं, सभी कामनाएँ और सभी वासनाएँ दूर हों, यह अत्यंत आवश्यक है।

(२) ''विनियतं चित्तम्'' -

चित्त को वश में करना चाहिए। सामान्य निग्रह काफी नहीं है। इसीलिए 'विनियतं' शब्द का प्रयोग किया गया है। (विनियतं का अर्थ है अच्छी तरह निश्शेष)। घोडे जिस सारथी के काबू में होंगे उसका रथ लक्ष्यस्थल सुरक्षित रूप से पहुँचेगा। इसी प्रकार इन्द्रिय और मन जिस साधक के वश में होंगे वह मोक्ष रूपी लक्ष्यस्थल तक जल्दी पहुँच सकेगा।

(३) ''आत्मन्येवावतिष्ठते'' -

जब चित्त की सब आशाएँ नष्ट होंगी तब चित्त अपना रूप खो खो कर आत्मा में लीन होगा। वही मोक्ष की स्थिति है। इस प्रकार उपर्युक्त तीन लक्षणों से युक्त साधक योगसिद्ध कहा जाता है।

प्रश्न - जीव कब योगसिद्ध या मोक्षयुक्त कहा जाएगा ?

उत्तर - (१) जिसके मन में एक भी कामना न हो (२) जिसका मन पूर्ण रूप से उसके वश में हो (३) जिसका मन आत्मा में स्थित हो, वह योगसिद्ध या मोक्षयुक्त कहा जाएगा।

प्रश्न - मोक्ष प्राप्ति के उपाय क्या हैं ?

उत्तर - (१) सभी कामनाएँ तथा वासनाएँ दूर करना

(२) मन को भली भाँति वश में करना

(३) मन को आत्मा में स्थित करना ये तीनों मोक्ष प्राप्ति के उपाय हैं।

सम्बन्ध - वश में किया हुआ चित्त ध्यानकाल में जब एकमात्र परमात्मा में ही अचल स्थित हो जाता है, उस समय उस चित्त की कैसी अवस्था हो जाती है, यह जाननेकी आकांक्षा होनेपर कहते हैं -

१९. यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥

शब्दार्थ - निवातस्थः = वायुरहित स्थान में स्थित। दीपः = दीप। यथा = जिस प्रकार। न इङ्गते = चलायमान नहीं होता। सा = वह। आत्मनः योगम् = आत्मध्यान का। युञ्जतः = अभ्यास करते। योगिनः = योगी के। यतचित्तस्य = संयमित मन की। उपमा = उपमा। स्मृता = कही गयी।

भावर्थ - जिस प्रकार वायुरहित स्थान में स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा परमात्माके ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्तकी कही गयी है।

व्यख्या - यद्यपि पर्वत् निश्चल रहता है तथापि उस में प्रकाश नहीं रहता। इसीलिए यहाँ पर्वत का दृष्टांत नहीं लिया गया। हवा न चले तो दीप निश्चल जलता रहेगा। प्रकाशवान भी रहेगा। इसीलिए योगी के ज्ञानमय और तेजोमय निश्चलचित्त के लिए दीप का दृष्टांत उपयुक्त लगता है। जीवन में नित्य घटनेवाली घटनाओं या अनुभूतियों के आधार पर सन्देश देना गीता की बडी विशेषता है। इससे विषय सब की समझ में अच्छी तरह आता है। खिडकी के किवाड तथा द्वार खुले रहें तो हवा के झोंके कमरे के अन्दर प्रवेश करेंगे। उनसे दीप चंचल हो जाएगा। बुझ जाएगा। इसी प्रकार अज्ञानी का चित्त इन्द्रिय रूपी द्वारों से अन्दर प्रवेश करनेवाली कामनाओं एवं वासनाओं से अस्थिर एवं चंचल हो जाएगा। "सर्वद्वाराणि संयम्य" कहा

गया। इसके अनुसार सभी इन्द्रियों को साधक वश में रखे, उनके द्वारा विषयवासनाओं को अन्दर प्रवेश करने से रोक दे तो उसके मन की ज्योति निश्चल रहेगी और आत्मा में स्थित होगी। निर्मल एवं निश्चल जल में सूर्यबिंब अच्छी तरह प्रतिबिंबित होगा। इसी तरह निर्मल एवं निश्चल मानस में आत्मारूपी पदार्थ अच्छी तरह प्रतिबिंबित होगा। तब जीव को ब्रह्मानन्द की अनुभूति होगी। इसीलिए (१) चित्त को वश में रखना और (२) चित्त को आत्मध्यान में स्थित करना योगी के लिए आवश्यक है। उनसे योगी को निश्चल दीप के प्रकाश की भाँति आत्मानन्द प्राप्त होगा। यही मोक्ष की स्थिति है।

प्रश्न - आत्मध्यान में लीन योगी के मन की उपमा किससे दी जासकती है ?

उत्तर - जहाँ हवा नहीं होती वहाँ पर स्थित दीप से दी जासकती है। (उस दीप की भाँति योगी का मन भी निर्मल एवं निश्चल रहेगा)

प्रश्न - आत्मा में स्थित होने के लिए मन को कैसे रहना चाहिए ?

उत्तर - मन साधक के वश में हो, और नियंत्रित हो तो वह आत्मा में स्थित होगा।

सम्बन्ध - इस प्रकार ध्यानयोगकी अन्तिम स्थितिको प्राप्त हुए पुरुषके और उसके जीते हुए चित्तके लक्षण बतला देनेके बाद, अब तीन श्लोकों में ध्यानयोगद्वारा सच्चिदानन्द परमात्माको प्राप्त पुरुषकी स्थितिका वर्णन करते हैं -

२०. यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥

२१. सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥

२२. यं लब्ध्वा चापकं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

२३. तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्ताव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥

शब्दार्थ - योग सेवया = योग के अभ्यास से । निरुद्धम् = संयमित । चित्तम् = मन । यत्र = जहाँ । उपरमते = शान्ति पाता है । यत्र = जहाँ । आत्मना = मन से । आत्मानम् = आत्मा को । पश्यन् = देखते हुए । आत्मन्येव = अपने में । तुष्यति = आनंद पाता है । यत्र = जहाँ । स्थितः = स्थित । अयम् = यह योगी । यत् = जो । अतीन्द्रियम् = इन्द्रियों को अगोचर । बुद्धिग्राह्यं = बुद्धि से ग्राह्य । अत्यन्तिकं च = अंत रहित । तत् सुखम् = उस सुख को । वेत्ति = समझता है । च = और । तत्वतः = स्वानुभव से । नैव चलति = विचलित नहीं होता । यं = जिसे । लब्ध्वा = पाने पर । अपरम = अन्य । लाभम् = लाभ । ततः = उससे । अधिकम् = अधिक । न मन्यते = नहीं मानता । यस्मिन् = जिसमें । स्थितः = स्थित होकर । गुरुणा = बडे । दुःखेन अपि = दुःख से भी । न विचाल्यते = विचलित नहीं होता । दुःख संयोग वियोगम् = दुःख के संयोग से रहित । तम् = उसे । योग सज्ञितम् = योग नाम से । विद्यात् = जानना चाहिए । सयोगः = वह योग । अनिर्विण्णचेतसा = अविकलित मन से । निश्चयेन = निश्चय के साथ । योक्तव्यः = प्राप्तव्य ।

भावार्थ - योग के अभ्यास से निरुद्ध चित्त जिस अवस्था में उपराम हो जाता है, और जिस अवस्था में परमात्मा के ध्यान से शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा परमात्मा को साक्षात् करता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही सन्तुष्ट रहता है ।

इन्द्रियों से अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है; उसको जिस अवस्था में अनुभव करता है और जिस अवस्था में स्थित यह योगी परमात्मा के स्वरूप से विचलित होता ही नहीं ।

परमात्मा की प्राप्तिरूप जिस लाभ को प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मप्राप्तिरूप जिस अवस्था में स्थित योगी बड़े भारी दुःख से भी चलायमान नहीं होता।

जो दुःखरूप संसारके संयोग से रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये। वह योग न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है।

व्याख्या - इन चार श्लोकों में जीव और ब्रह्म की एकता एवं आत्म साक्षात्कार के प्रतीक (ध्यान) योग की महिमा का स्पष्टीकरण किया गया। ध्यानयोग से मन आत्मा में स्थित होकर परम शान्ति एवं सुख का अनुभव करता है। जीवन का लक्ष्य वही है। संयमित मन ही आत्मा में लीन होसकता है। मन को किस प्रकार संयमित करें, यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। योगाभ्यास तथा साधना से मन वश में किया जासकता है। अतः योगसेवा अवश्य करनी चाहिए। अज्ञानी विषयवासनाओं की सेवा करते हैं, मगर ज्ञानी योग की सेवा करते हैं। तभी जीव मुक्ति पाता है।

योगाभ्यास के द्वारा जीव अपने परिशुद्ध मन से अंतःकरण में आत्मा का अवलोकन कर महदानंद पाता है। 'पश्यन्' कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा परोक्षवस्तु नहीं है, उसे प्रत्यक्षरूप से देखा जासकता है। यह देखने का मतलब दृश्य वस्तु को देखना नहीं है, अनुभव करना है। शुद्ध मन ही आत्मा का अनुभव पासकता है, मलिन मन नहीं। आत्मा के दर्शन के लिए संसार की कोई भी वस्तु काम नहीं आती। केवल अपना शुद्ध मन ही काम आता है।

प्रश्न उठता है कि आत्मा कहाँ है ? परमात्मा कहाँ है ? आत्मा अपने ही अंदर है। उसे बाहर से देखा नहीं जा सकता। वह तो हर जीव के अतिसमीप है। उसे अनुभव के द्वारा समझा जासकता है। साधकों के लिए यह बात अत्यंत उपयोगी है। आत्मानुभव से ब्रह्मानंद की प्राप्ति होती है।

तुच्छ सुखों के पीछे दौड दौड कर साधक निराश होता है। उसको शान्ति नहीं मिलती। अन्त में अपने ही अंदर निहित परमात्मा को अनुभव के द्वारा प्राप्त कर परमानन्द पाता है।

वह सुख अनंत है। इन्द्रियातीत है। निर्मल बुद्धि के द्वारा ग्राह्य है। बुद्धि जब निर्मल बनती है तब वह अपना उपाधिरूप खोकर आत्माकार में परिणत होती है। ऐसी निर्मल बुद्धि के द्वारा आत्मसुख मिलता है। वह इन्द्रियातीत है। इन्द्रियों के दास बने लोग उसे समझ नहीं सकते। यहाँ ध्यान देने की बात एक है। एक ओर कहा गया कि आत्मसुख इन्द्रियातीत है, फिर दूसरी ओर कहा गया कि बुद्धि के द्वारा जाना जासकता है। (बुद्धि भी तो एक इन्द्रिय ही है)। अब प्रश्न उठता है कि क्या यह परस्पर विरोधी बात नहीं है ? उत्तर है कि नहीं। क्यों कि जब बुद्धि अत्यंत शुद्ध होती है तब अपना इन्द्रियरूप खोती है। ब्रह्माकार में परिणत होती है। (जैसे नमक एवं ओले दोनों समुंदर में मिल जाते हैं)। बुद्धिग्राह्य कहने से स्पष्ट है कि आत्मा को हर कोई समझ सकता है। परन्तु इसके लिंए अपनी बुद्धि को शुद्ध करें तों काफी है। ''अतीन्द्रियम्'न कहा गया। इससे स्पष्ट है कि जो इन्द्रियसुख में लीन है वह आत्मानन्द पा नहीं सकता। आत्मसुख अनन्त कहा गया। इससे स्पष्ट है कि बाकी सब बाह्यसुख क्षण भंगुर हैं। अतः उनके पीछे पडना ठीक नहीं।

यहाँ यह भी कहा गया कि आत्मानन्द पानेवाला योगी वहाँ से कभी नहीं हटता। पुण्य के मकरंद का पान करनेवाला भ्रमर क्या वहाँ से हट सकता है ? सत्यपदार्थ प्राप्त करनेवाला क्या फिर मिथ्यावस्तु के पीछे पड सकता है ? बिंब पानेवाला क्या प्रतिबिंब के पीछे दौड सकता है ? अगर कोई ऐसा करता है तो समझना चाहिए कि अभी वह कच्चा है।

संसार में सब से अधिक लाभदायक आत्मानन्द ही है। अतः उसे पाकर ध्यानयोगी बाकी लाभों पर ध्यान नहीं देता। आत्मानन्द के आगे अन्य लाभ सब तिनके के बराबर हैं। संसार में हर कोई लाभ चाहता है। पर

सांसारिक लाभ सब क्षणभंगुर है। कुछ समय के बाद वे नष्ट होते हैं। अतः वास्तव में वे लाभ नहीं हैं। वे क्षणिक हैं। आत्मानुभव संबंधी आनन्द ही शाश्वत है। वही महान् लाभ है। इसीलिए यहाँ कहा गया कि उसे पानेवाला फिर दूसरी ओर आकर्षित ही नहीं होता। अतः हर जीव को उस शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए ही प्रयास करना चाहिए।

यहाँ बताया गया कि आत्मानन्द पानेवाला योगी किसी भी घटना से भयभीत नहीं होता। जिस प्रकार स्वप्न में घटीं आपदाएँ मनुष्य को व्यथा नहीं पहुँचातीं उसी प्रकार आत्मानुभव पानेवाले को भयंकर घटनाएँ भी विचलित नहीं कर सकती। अतः हर जीव को आत्मस्थिति प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

वह आत्मस्थिति ही योग कही गयी है। वह दुःख रहित निर्मल स्थिति है। इसीलिए भगवान ने उसके बारे में "दुःख संयोग वियोगम" कहा है। संसार में धनवियोग, पुत्रवियोग आदि क्लेश पहुँचाते हैं। परन्तु भगवान के द्वारा प्रकटित यह दुःख संयोग वियोग हमेशा ब्रह्मानन्द ही प्राप्त कराते हैं। परन्तु वह ब्रह्मानन्द दुर्बलचित्तवाले को प्राप्त नहीं होता। इसीलिए "अनिर्विण्ण चेतसा" कहा गया है। धैर्यवान साहसी मन ही परमात्मा रूपी लक्ष्य तक पहुँच सकता है। अभ्यास के समय किसी भी तरह की आपदा से जो विचलित न हो वही आत्मानुभूति पा सकता है। साधक को गिराने के लिए माया कई प्रकार के प्रयत्न करती है। कभी सुख और कभी दुःख पहुँचा कर जीव को माया भरमाती है। तब साधक को सतर्क रह कर भगवान तथा सद्गुरु पर विश्वास कर मोक्ष के मार्ग पर धैर्य के साथ चलना चाहिए। तभी उसे इस प्रयास में सफलता मिल सकती है।

प्रश्न - चित्त किस के द्वारा वश में किया जा सकता है?

उत्तर - योग सेवा के द्वारा चित्त वश में किया जा सकता है।

प्रश्न - कैसा चित्त आत्मा में लीन होता है ?

उत्तर - विषयवासनाओं से विमुख चित्त आत्मा में लीन होता है।

प्रश्न - आत्मा को कैसे देख सकते हैं ?

उत्तर - शुद्ध (निर्मल) मन से आत्मा को देख सकते हैं।

प्रश्न - आत्मा को कहाँ देख सकते हैं ?

उत्तर - अपने में ही, अपने हृदय में ही देख सकते हैं।

प्रश्न - आत्मा के दर्शन का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर - इससे जीव को ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है। (वही मोक्ष है)।

प्रश्न - आत्मसुख कैसा है ?

उत्तर - इन्द्रियों के लिए अगोचर है।

प्रश्न - इन्द्रियों को गोचर न हो तो उसे किस तरह जानना पडेगा ?

उत्तर - निर्मल बुद्धि, विशुद्ध मन से उसे जानना पडेगा।

प्रश्न - आत्मस्थिति तक पहुँचनेवाला क्या करता है ?

उत्तर - निरंतर आत्मा में ही रमता रहता है। वहाँ से नहीं हटता।

प्रश्न - संसार में सब से बडा लाभ क्या है ?

उत्तर - आत्मलाभ ही सब से बडा है।

प्रश्न - ऐसे आत्मयोगी की पहचान क्या है ?

उत्तर - भयंकर विपत्तियों में भी वह विचलित नहीं होता।

प्रश्न - दु:खों के दूर होने का उपाय क्या है ?

उत्तर - आत्मस्थिति की प्राप्ति ही उसका उपाय है।

प्रश्न - आत्मस्थिति कैसे प्राप्त होती है ?

उत्तर - कष्टों से जो मन विचलित नहीं होता, जो मन हठपूर्वक निष्ठावान् होता है उसी को आत्मस्थिति प्राप्त होती है।

सम्बन्ध - परमात्मा को प्राप्त पुरुष की स्थिति का नाम 'योग' है, यह कहकर उसे प्राप्त करना निश्चित कर्तव्य बतलाया गया; अब दो श्लोकों में उसी स्थिति की प्राप्ति के लिए अभेदरूप से परमात्मा के ध्यानयोग का

साधन करने की रीति बतलाते हैं -

२४. *संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।*
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥

२५. *शनैः शनैरुपरमेद्बुद्‌ध्या धृतिगृहीतया ।*
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥

शब्दार्थ - संकल्प प्रभवान = संकल्प से उत्पन्न होनेवाली । कामान् = कामनाएँ । सर्वान् = सब को । अशेषतः = पूरा । त्यक्त्वा = त्याग कर । मनसा एव = मन से ही । इन्द्रियग्रामं = इन्द्रिय समूह को । समन्ततः = सभी ओर से । विनियम्य = निग्रहित कर । धृति गृहीतया = धैर्य युक्त । बुद्‌ध्या = बुद्धि से । शनैः शनैः = धीरे धीरे । उपरमेत = विश्राम लेना चाहिए । मनः = मन को । आत्म संस्थम् = आत्मा में स्थित सा । कृत्वा = कर । किञ्चित् अपि = आत्मा के व्यतिरेकी किसी का । न चिन्तयेत् = चिंतन नहीं करना चाहिए ।

भावार्थ - संकल्प से उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओं को निःशेषरूप से त्याग कर और मन के द्वारा इन्द्रियों के समुदाय को सभी ओर से भलीभाँति रोककर -

क्रम-क्रम से अभ्यास करता हुआ उपरति को प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा मन को परमात्मा में स्थित करके परमात्मा के सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे ।

व्याख्या - इस श्लोक में ध्यान योग की रीति का विवरण भगवान ने बताया । पहले बताया गया कि कामनाओं को छोड देना चाहिए । वास्तव में कामनाएँ संकल्पों से उत्पन्न होती हैं । संकल्प ही कामनाओं तथा आशाओं की जननी है । इसीलिए 'संकल्प प्रभवान' कहा गया । विवेक एवं वैराग्य के द्वारा प्रयत्न करना चाहिए कि मन में संकल्प ही पैदा न हों तो कामनाएँ नहीं होंगी । इस प्रकार आदेश दिया गया कि सभी इच्छाओं को लुप्त कर देना चाहिए ।

"सर्वान्" कहने से स्पष्ट है कि सभी कामनाओं को मिटा देना चाहिए। एक भी इच्छा बची रहे तो वह सब कुछ बिगाड देती है। इसीलिए भगवान ने गीता में बार बार कहा है कि एक दो नहीं सभी इच्छाओं को मिटा देना चाहिए। अग्नि, शत्रु, रोग, ऋण तथा विषयवासनाएँ खतरनाक हैं। वे शेष रहें तो मनुष्य का बहुत बडा अपकार करते हैं। अत: उन्हें समूल नष्ट कर देना चाहिए। इसीलिए "अशेषत:" कहा गया है। इन शत्रुओं में सब से बलवान काम है। इसीलिए भगवान ने उसके बारे में जागरूक रहने के लिए कहा है। इसीलिए शायद 'सर्वान्' एवं 'अशेषत:' दो विशेषणों का प्रयोग किया। कामनाओं की पूर्ति के लिए चित्त बहिर्मुखी होकर दौडता है। कामनाएँ न हों तो मन.अंतर्मुखी बनता है। अत: ध्यानियों के लिए कामनाओं का त्याग अत्यावश्यक है।

सभी कामनाओं को मिटा कर मन के द्वारा इन्द्रियों को शब्द आदि विषयों से मोड कर वश में कर लेना चाहिए। जिस तरह कछुआ अपने अंगों को अन्दर की ओर मोड लेता है उसी प्रकार इन्द्रियों को वश में कर लेना चाहिए। इन्द्रियरूपी घोडों को मन रूपी लगाम लगा कर वश में कर लेना चाहिए। 'यम्य' न कह कर 'विनियम्य' कहा गया। इससे स्पष्ट है कि मन के द्वारा इन्द्रियों को काबू में रखना चाहिए। ग्राम (समूह) कहा गया। इससे स्पष्ट है कि एक इन्द्रिय नहीं सभी इन्द्रियों को वश में रखना चाहिए। 'समन्तत:' कहा गया। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियों को एक ओर से नहीं सभी ओर से पीछे की तरफ खींचना चाहिए। ऐसा न किया जाय तो अनर्थ होगा।

इसके बाद कहा गया कि धैर्यवान बुद्धि के द्वारा मन को धीरे धीरे बाहरी संसार से खींच कर आत्मा में स्थिर करना चाहिए। मन को वश में करने की शक्ति बुद्धि में है। मन के कहे अनुसार अज्ञानियों की बुद्धि चलती है। लेकिन बुद्धि के कहे अनुसार ज्ञानियों का मन चलता है। मन जन्म जन्म के संस्कारों से आवृत रहता है। वह बुद्धि की बात जल्दी नहीं मानता।

इसीलिए "धृति गृहीतया" कहा गया। अर्थात् धैर्यवान बुद्धि के द्वारा मन को वश में करना चाहिए। मन बाघ जैसा है। ऐसी हालत में बुद्धि को बकरी नहीं बननी चाहिए। उसे शेर जैसा रहना चाहिए। धैर्य और स्थैर्य के साथ बुद्धि के द्वारा मन को अंतर्मुखी बनाना चाहिए।

इस कार्य में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। "शनैः शनैः" अर्थात् धीरे धीरे मन को वश में लाना चाहिए। जोर जबर्दस्ती नहीं करनी चाहिए। वशिष्ठ ने कहा कि 'लालयेत् चित्त बालकम्'। इसी प्रकार लाड प्यार कर मन रूपी बच्चे को धीरे धीरे बाहरी दुनिया से मोडकर अंतर्मुखी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा न करके जोर जबर्दस्ती कर मन को वश में करने का प्रयत्न करें तो असफलता हाथ लगेगी। चिनगारी पर बडी बडी लकडियाँ डाल दें तो वह बुझ जाएगी। इसी तरह कठोर साधना शुरू करें तो शरीर और मन संभाल नहीं सकते। इससे लक्ष्य को धक्का लगेगा। अंग्रेजी की कहावत है -

Slow and Steady wins the Race

धीरे धीरे प्रयत्न करने से ही विजय प्राप्त होती है। मन को वश में करने के बाद फिर उसे आत्मा में स्थित करना चाहिए। आत्मचिंतन रूपी आहार उसे देना चाहिए। तब जिस तरह ओले समुंदर में गल कर मिल् जाते हैं उसी प्रकार मन आत्मा रूपी सागर में विलीन होकर आत्माकार प्राप्त करता है। वही मोक्ष है। मन को आत्मा में स्थापित करने के बाद फिर आत्मेतर विषय का चिंतन नहीं करना चाहिए। इसीलिए 'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' कहा गया। दवा के सेवन के बाद पथ्य ठीक तरह से न करें तो रोग जिस तरह दूर नहीं होता उसी तरह मन को आत्मा में स्थित करने के बाद फिर दृश्य वस्तुओं का चिंतन शुरू करें तो लक्ष्य तक पहुँचना संभव नहीं होगा। इस बात को ध्यान में रखना साधकों का प्रधान कर्तव्य है।

"आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्" (आत्मा में मन को स्थित कर अन्य विषय की चिंतन नहीं करना चाहिए।) गीता का यह

वाक्य सभी शास्त्रों का सार है। सभी साधनाओं का संक्षिप्तरूप है। मुमुक्षुओं को इस बात का बार बार स्मरण करते हुए उस पर अमल करनी चाहिए।

प्रश्न - ध्यान का अभ्यास करनेवाले को किन नियमों का पालन करना चाहिए ?

उत्तर - (१) सब कामनाओं को मिटा देना चाहिए।

(२) मन और इन्द्रियों को विषय वासनाओं से मोडना चाहिए।

(३) धैर्यवान बुद्धि के द्वारा मन को बाहरी दुनिया से धीरे धीरे मोड कर उसे आत्मा में स्थित करना चाहिए।

(४) मन को आत्मा में स्थित करने के बाद आत्मेतर किसी वस्तु का चिंतन नहीं करना चाहिए।

प्रश्न - कामनाएँ किन से पैदा होती हैं ?

उत्तर - संकल्पों से कामनाएँ पैदा होती हैं।

प्रश्न - साधक की बुद्धि कैसी होनी चाहिए ?

उत्तर - धैर्य से युक्त होनी चाहिए।

प्रश्न - साधना किस तरह करनी चाहिए ?

उत्तर - धीरे धीरे करनी चाहिए। जल्द बाजी नहीं करनी चाहिए।

सम्बन्ध - मन को परमात्मा में स्थिर करके परमात्मा के सिवा अन्य कुछ भी चिन्तन न करने की बात कही गयी; परन्तु यदि किसी साधक का चित्त पूर्वाभ्यास वश बलात्कार से विषयों की ओर चला जाय तो उसे क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं -

२६. *यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।*
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

शब्दार्थ - चञ्चलम् = चपल। अस्थिरम् = अस्थिर। मनः = मन। यतः यतः = जहाँ जहाँ। निश्चरति = संचरित होता है। ततः ततः = वहाँ वहाँ से। एतत्

= इसे। नियम्य = मोड कर। आत्मनि एव = आत्मा में ही। वशं = अधीन। नयेत् = करना चाहिए।

भावार्थ - यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषय के निमित्त से संसार में विचरता है , उस उस विषय से रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मा में ही निरुद्ध करे।

व्याख्या - पिछले श्लोक में बताया गया कि मन को आत्मा में स्थित कर और किसी बात का चिंतन नहीं करना चाहिए। इस श्लोक में बताया गया कि यदि मन आत्मा में स्थित न हो सके और भाग निकले तो क्या करना चाहिए। गीता अनुभवों का सार है। इसीलिए साधकों की समस्याओं की कल्पना कर उनका समाधान इसमें दिया गया है।

मन बडा चपल है। आरंभ में वह एक जगह टिका नहीं रहता। आत्मध्यान में उसे लगा रखना चाहें तो वह वहाँ से निकल जाएगा। विषय वासनाओं पर मंडराने लगेगा। तब साधक को चाहिए कि उन विषय वासनाओं से वह मन को मोडे। मन एक दम उन विषयों से विमुख नहीं होता। जब उसे उन वस्तुओं की नश्वरता तथा तुच्छता का पता लगेगा तब वह उनसे दूर भाग निकलेगा। अतः विवेक एवं वैराग्य के बल पर मन को विषयवासनाओं के दोषों से परिचित कराना चाहिए। उसे समझाना चाहिए कि बाहरी सुख क्षणिक हैं, निस्सार हैं, नश्वर हैं और अंतर्मुखी आत्मसुख शाश्वत है, अविच्छन्न है। तब वह आत्मसुख की ओर मुडेगा। इस प्रकार विज्ञ व्यक्ति को चाहिए कि वह मन को आत्मा में स्थित करे। आत्मा के अधीन करे। अज्ञानियों की आत्मा उसके मन के अधीन रहती है। अर्थात् मन के कहे अनुसार वह नाचती रहेगी। ऐसा न होकर जब मन आत्मा के अधीन होगा तभी सच्चा आत्मिक सुख जीव को मिलेगा। सारांश यह कि आत्मा प्रबल रहे न कि मन। इसीलिए भगवान आदेश देते हैं कि ''आत्मन्येव वशं न येत्'' मन को आत्मा के अधीन करना चाहिए।

अतः साधक को मन की गति पर ध्यान देना चाहिए। अज्ञानी मन से मिला रहता है। इसीलिए मन के विकारों को तटस्थ भावना से देख नहीं पाता। उनके वश में हो जाता है। परन्तु विवेकवान सतर्क रहता है। जब उसके मन में विकार पैदा होता है तब उसे तटस्थ भाव से देखता है। उसे काबू में कर लेता है। अज्ञानी ऐसा नहीं कर सकता। भगवान ने इस श्लोक में बताया कि ध्यानयोगी को अपने मन की गतियों का निरीक्षण करते रहना चाहिए। संकल्प ही मन का स्वरूप है। इसलिए जो जो संकल्प मन में पैदा होकर दृश्य विषयों की ओर जाते हैं, उन्हें वहाँ से हटा लेना चाहिए। उन्हें आत्मा में स्थित करना चाहिए।

प्रश्न - मन का स्वभाव कैसा है ?

उत्तर - मन चंचल और अस्थिर है।

प्रश्न - मन जब आत्मा में स्थित न होकर बाहर निकल पडे तो क्या करना चाहिए ?

उत्तर - जहाँ जहाँ मन जाएगा वहाँ वहाँ से उसे हटा कर आत्मा में स्थित करना चाहिए। मन को आत्मा के अधीन कर देना चाहिए।

२७. प्रशान्तमनसं होनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्पकम्॥

शब्दार्थ - प्रशान्तमनसं = प्रशांत मनवाला। शान्तरसजम् = रजोगुण विकारों से रहित। ब्रह्मभूतम् = ब्रह्म भाव पानेवाला। अकल्मषम् = दोष रहित। एनम = यह। योगिनम् = योगी को। उत्तमम् = श्रेष्ठ। सुखम् = सुख। उपैति हि = प्राप्त होता है।

भावार्थ - क्योंकि जिसका मन भलीप्रकार शान्त है, जो पाप से रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के साथ एकीभाव हुए योगी को उत्तम आनन्द प्राप्त होता है।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि उत्तम आनन्द किसे प्राप्त होगा। संसार में सामान्य लोग जो सुख पाते हैं वह उत्तम सुख नहीं है। दृश्यव स्तुओं में पूर्ण सुख नहीं है। जो सुख काल और देश के वश में होता है वह शाश्वत नहीं है। इन्द्रिय सुख एवं धन सुख तो होता है, परन्तु वह नश्वर है। उत्तम नहीं है। आत्मसुख ही सच्चा है। वह देश और काल के वश में नहीं रहता। इसीलिए उसे यहाँ 'उत्तम सुख' कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि बाकी सब सुख तुच्छ हैं। अतः विज्ञ पुरुष उत्तम सुख की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करते हैं। इस श्लोक में बताया गया कि किन किन साधनों को अमल में लाने से वह उत्तम सुख प्राप्त होगा।

१. मन को उतार चढाव से दूर रखना चाहिए।

२. रजोगुण और तमोगुण जैसे विकारों से मन को दूर रखना चाहिए।

३. वासनाओं की मलिनता एवं पाप के दोषों से मन को दूर रखना चाहिए।

इन तीन साधनों को अमल में ला सके तो मनुष्य ब्रह्मरूप बन जाएगा। तब उपर्युक्त उत्तम सुख उसके हाथों में अपने आप आ जाएगा। संसार में सामान्य लोग सुख की खोज में निकल पडते हैं, परन्तु उपर्युक्त गुणी योगी की खोज में उत्तम सुख स्वयं निकल पडेगा। उपर्युक्त तीन साधनों को अमल लावें तो हर कोई उत्तम सुख पासकता है।

परमात्मा को प्राप्त करने के लिए चित्त की जो मलिनता अवरोध बनी हुयी है उसे पहले हटा देना चाहिए। दृश्य वासनाओं का निर्मूलन कर पहले चित्त को अमलिन बनाना चाहिए। कई वर्षों तक उजडा पडा घर एक दम जाकर देखें तो उसके अन्दर बिच्छू, सांप, चूहे कूडा कर्कट, मकडी के जाल तथा भूत प्रेत आदि दृग्गोचर होते हैं। उन सब को हटा कर उसे साफ करें तो वह वासयोग्य बन सकता है। इसी प्रकार जन्म जन्म से मनष्य के मन को काम क्रोध, मद मात्सर्य आदि घेरे हुए हैं। उन सब को विवेक एवं वैराग्य के द्वारा निकाल दें और ज्ञान के प्रकाश से मन को भर दें तो वह आत्म देवता

का निवासस्थल बन सकता है। मलिन हृदय में भगवान नहीं बसेगा। इसीलिए "शान्तरजसम्, अकल्मषम" आदि शब्दों के द्वारा गीताचार्यने हृदय की निर्मलता पर जोर दिया। अतः भगवान के सक्षात्कार तथा आत्मिक शान्ति की प्राप्ति के लिए मन की निश्चलता एवं निर्मलता आवश्यक हैं।

ऐसा सद्गुणी स्वयं ब्रह्मस्वरूप ही होगा। क्योंकि जब आवरण निकल जाएगा तब जीव शिव बन जाएगा। चित्त के दोष जब दूर होते हैं तब चित्त, चित् में बदल जाता है। अर्थात् चिद्रूप आत्मा में लीन होकर ब्रह्माकार में बदल जाता है। ऐसे ब्रह्मरूप के पास उत्तम सुख अपने आप दौड कर आएगा। मोक्षरूपी लक्ष्मी उसका वरण करेगी। इसलिए साधक को मोक्ष की प्राप्ति के प्रयत्न में लगे रहना चाहिए। भगवान इस श्लोक में बताते है कि साधक जिस समय अपने मन को रजोगुण रहित बना लेगा उसी समय सर्वोत्तम सुख उसका वरण करेगा।

प्रश्न - संसार में सब से श्रेष्ठ उत्तम सुख क्या है ?

उत्तर - मोक्ष सुख श्रेष्ठ है।

प्रश्न - उसे कौन पासकता है ?

उत्तर - (१) प्रशांत चित्तवाला।

(२) रजोगुण एवं तमोगुण रहित।

(३) दोष वर्जित। इन तीन गुणों से युक्त जीव उत्तम सुख पाता है।

प्रश्न - उत्तम सुख पाने के उपाय क्या हैं ?

उत्तर - (१) मन को प्रशांत रखना चाहिए।

(२) मन से काम आदि रजोगुण तथा तमोगुण आदि विकारों को दूर करना चाहिए।

(३) मन से कामवासना संबंधी मलिनता तथा पाप संबंधी दोष को दूर कर उसे शुद्ध रखना चाहिए।

ये उत्तम सुख पाने के उपाय हैं।

सम्बन्ध - परमात्माका अभेदरूपसे ध्यान करनेवाले ब्रह्मभूत योगीकी स्थिति बतलाकर, अब उसका फल बतलाते हैं -

२८. युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥

शब्दार्थ - एवम् = इस प्रकार। सदा = हमेशा। आत्मानं = मन को। युञ्जन् = आत्मा में स्थित करते हुए। विगत कल्मषः = दोष रहित। योगी = योगी। सुखेन = सुख से। ब्रह्म संस्पर्शम् = ब्रह्मरूप। अत्यन्तम् = अति श्रेष्ठ। सुखम् = आनन्द। अश्नुते = प्राप्त करता है।

भावार्थ - वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है।

व्याख्या - ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का सुलभ उपाय भगवान यहाँ बतलाते हैं। अकसर लोग पूछा करते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति का सुलभ उपाय क्या है ? उसका उत्तर भगवानने स्वयं दिया है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए दो साधनों का उपयोग करना चाहिए। (१) मन के पापों और दुर्गुणों को दूर कर लेना चाहिए। (२) मन को हमेशा आत्मा में स्थित करना चाहिए। पहला साधन है पाप रहित होना। 'विगत कल्मषः' कहा गया। कल्मष रहित होने के लिए भगवानने गीता में बार बार कहा है। क्योंकि मलिन चित्त में आत्मज्ञान का उदय नहीं होता। मलिन चित्त आत्मा में नहीं समाता। विषय वासनाओं तथा पापों से युक्त मन विजातीय होता है। वह सजातीय आत्मा में लीन नहीं होता। अतः मलिनता को दूर कर मन को दोष रहित एवं निर्मल बनाना चाहिए। तब वह आत्मा में लीन होता है। इस श्लोक में बताया गया कि वासना राहित्य एवं आत्मचिंतन दोनों आवश्यक हैं। ऐसा करते हुए साधक को चाहिए कि वह मन को आत्मा में लीन करने का प्रयत्न करे। यह प्रयत्न

सदा करते रहना चाहिए। उपर्युक्त साधनों को जो अमल में लाएगा वह आसानी से ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकेगा। "ब्रह्म संस्पर्शम्" कहा गया। इससे स्पष्ट है कि साधक ब्रह्म का स्पर्श कर सकता है। ब्रह्म में लीन हो सकता है। आत्मसुख को 'अत्यन्त सुखम्' कहा है। यह आत्मानन्द हर साधक प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न - मोक्ष पाने के सुलभ साधन क्या हैं ?

उत्तर - (१) मन से पापों एवं दोषों को दूर करना (२) मन को सदा आत्मा में लीन रखना, मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं।

प्रश्न - मोक्ष का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - (१) वह निरतिशय होता है (२) ब्रह्म का स्पर्श कर सकता है।

सम्बन्ध - इस प्रकार अभेदभावसे साधन करनेवाले सांख्ययोगीके ध्यानका और उसके फलका वर्णन करके अब उस साधकके व्यवहारकालकी स्थितिका वर्णन करते हैं -

२९. *सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।*
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

शब्दार्थ - योगयुक्तात्मा = योगयुक्त मनवाला। सर्वत्र = सभी चराचर प्राणियों में। समदर्शनः = समदृष्टि से युक्त। आत्मानम् = अपने को। सर्वभूतानां = सभी भूतकोटि में स्थित। सर्व भूतानि = समस्त भूत। आत्मनिच = अपनी आत्मा में स्थित। ईक्षते = देखता है।

भावार्थ - सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकीभाव से स्थितिरूप योग से युक्त आत्मावाला तथा सब में समभाव से देखनेवाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में कल्पित देखता है।

व्याख्या - योग का मतलब है जीव और ब्रह्म का मिलन, मन का आत्मा में लीन होना। जो ऐसा योग पाता है उसकी विशेषताओं का विवरण यहाँ

दिया गया है। बताया गया कि ऐसा योगी समस्त प्राणियों को देखता है। यह स्थिति किसे सुलभ हो सकती है, इसका विवरण यहाँ बताया गया।

यह समस्त दृश्य जगत् आत्मा में स्थित है। जैसे सर्प की कल्पना रज्जु में की जाती है, जैसे जागृतपुरुष में स्वप्न की कल्पना की जाती है, वैसे यह समस्त जगत्, यह समस्त ब्रह्मांड आत्मा में आरोपित है। आरोपित वस्तु सदा अधिष्ठान में ही निवास कर सकती है, अन्यत्र नहीं। इसलिए जो योगी समझ लेता है कि स्वयं ही आत्मा है, वह समस्त जगत् के दर्शन आत्मा में करता है। अपने को ही समस्त जगत् में पाता है। यह स्थिति तभी संभव है जब कि योगी ध्यानयोग या अन्य किसी योग के द्वारा मन को आत्मा में लीन कर ले। वास्तव में योगी खुद आत्मा हैं न कि शरीर मानता है वह आत्मा को समझ नहीं सकता। आत्मा में सभी भूतों को, भूतों में आत्मा को देख नहीं पाता। देह की भावना संकुचित है। अतः ऐसा व्यक्ति विशालता एवं उदारता पा नहीं सकता। वह देह और देह के बीच अंतर पाता है। यह अंतर या भेद ही सभी स्पर्धाओं और अशांति का मूल कारण है। आत्मानुभूति प्राप्त जीव इस भेद से दूर रहता है। वह अन्य प्राणियों से द्वेष नहीं करता। सभी को आत्मस्वरूप मानता है। तब उसका हृदय सभी प्राणियों के प्रति प्रेम और करुण भावना रखता है। इससे स्पष्ट है कि इस नैतिक क्षेत्र (Ethical field) का आधार आध्यात्मिक क्षेत्र (Spiritual field) ही है। 'सर्वस्व आत्मा है, आत्मा में ही सब कुछ है' यह आध्यात्मिक सिद्धांत ही समस्त नैतिक संपत्ति एवं समस्त गुणों का मूल है। साधक को चाहिए कि योग में पूर्णता पाने के लिए वह सर्व समता एवं विशाल दृष्टि को अपनावे। हमें समझ लेना चाहिए कि समदृष्टिवाला ही सच्चा योगी है।

प्रश्न - योगी के लक्षण क्या है ?

उत्तर - योगी समदृष्टिवाला होता है। समस्त प्राणियों में अपने को पाता है और अपने में समस्त प्राणियों को पाता है।

सम्बन्ध - इस प्रकार सांख्ययोग का साधन करनेवाले योगी का और उसकी सर्वत्र समदर्शनरूप अन्तिम स्थिति का वर्णन करने के बाद, अब भक्ति योग का साधन करनेवाले योगी की अन्तिम स्थिति का और उसके सर्वत्र भगवद्दर्शन का वर्णन करते हैं -

३०. यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

शब्दार्थ - यः = जो। सर्वत्र = सभी भूतों में। माम् = मुझे। पश्यति = देखता है। सर्वं च = समस्त भूतों को। मयि = मुझमें। पश्यति = देखता है। तस्य = उसे। अहं मैं। न प्रणश्यामि = अदृश्य नहीं होता। सः च = वह भी। मे = मेरे लिए। न प्रणश्यति = अदृश्य नहीं होता।

भावार्थ - जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मरूप मुझ वासुदेव को ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव के अन्तर्गत देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।

व्याख्या - भगवान श्रीकृष्ण सभी जीवों का आत्मस्वरूप है। इसलिए पिछले श्लोक के अनुसार वे योग युक्त हैं। सर्वात्मा के दर्शक हैं। मतलब है कि सभी जीवों में भगवान श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण में सभी जीव हैं। इस प्रकार जो सभी प्राणियों में परमात्मा के दर्शन करता है उसे परमात्मा के दर्शन क्यों नहीं होंगे। यहाँ दर्शन का मतलब प्रत्यक्ष देखना नहीं, दर्शन की अनुभूति पाना है। जब जीव परमात्मा में लीन होता है तब दोनों एक ही चेतनामय वस्तु बन जाते हैं। तब एक दूसरे को जाने बिना कैसे रहेंगे ?

(द्वैत दृष्टि से देखने पर) भगवान के अनुग्रहीत होने का उत्तर यहाँ दिया गया है। जो समस्त जीवों में परमात्मा को और परमात्मा में समस्त जीवों को देख सकता है, उस पर भगवान का अनुग्रह रहता है। भगवान ने कहा कि "स चमेन प्रणश्यति" वह मेरे लिए अदृश्य नहीं है। मतलब है कि

वह भगवान की दृष्टि में पड गया। वह भगवान का अत्यंत प्रीति पात्र है। यद्यपि सभी जीव भगवान की संतान हैं तथापि जो उनका आश्रय लेते हैं, वे उनके अत्यंत प्रीतिपात्र हैं। भगवान की दृष्टि को वे ही ज्यादा आकर्षित करते हैं। उनका जीवन धन्य है जिन्हें ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो। संसार में देखा जाता है कि छोटे छोटे अफसरों की दृष्टि में पडने के लिए लोग तरह तरह की यातनाएँ सहते हैं। ऐसे छोटे मोटे प्राणियों की आशा छोड कर सर्वशक्तिमान एवं सर्वांतर्यामी जगन्नाथ की दृष्टि में पडना बेहतर है। उनके आशीष पाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। प्रश्न उठता है कि यह कैसे संभव है ? भगवान का अनुग्रह कैसे प्राप्त होगा ? उसका समाधान इस श्लोक में मिलता है। (ध्यान आदि के द्वारा) जीवराशि में परमात्मा को, परमात्मा में जीवराशि को देख सकने का अनुभव पाना काफी है। भगवान की कृपा की वर्षा उस पर होती है। ऐसा न होकर भेदबुद्धि से जो काम लेता है उसे ऐसा अनुभव कभी प्राप्त नहीं होता।

इस श्लोक में 'यः' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'यः' का अर्थ है जो भी हो। जो साधना करेगा भगवान का अनुग्रह रूपी महान् फल वह प्राप्त कर सकेगा। जाति, मत एवं कुल की बात ही नहीं।

प्रश्न - भगवान किसे दिखाई देता है तथा भगवान को कौन दिखाई देता है?

उत्तर - जीवराशि में भगवान को जो देखता है, जो भगवान में जीवराशि को देखता उसे भगवान दिखाई देता है। वैसा व्यक्ति भगवान को दिखाई देता है।

प्रश्न - भगवान की दृष्टि में पडने या भगवान के प्रीतिपात्र बनने के लिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर - समस्त प्राणियों में परमात्मा को और परमात्मा में समस्त प्राणियों को देखना चाहिए। (समस्त प्राणियों का हित करते रहना चाहिए।)

सम्बन्ध - सर्वत्र भगवद्दर्शन से भगवान् के साक्षात्कारी की बात कहकर उस

भगवत्-प्राप्त पुरुष के लक्षण और महत्त्व का निरूपण करते हैं --

३१. सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थित: ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

शब्दार्थ - सर्वभूतस्थितम् = सभी भूतों में स्थित । माम् = मुझे । य: = जो । एकत्वम् = अभेद बुद्धि । अस्थित: = प्राप्त पर । भजति = भजता है । स: योगी = वह योगी । सर्वथा वर्तमान: अपि = सब प्रकार से बरतता हुआ भी । मयि = मुझमें ही । वर्तते = बरतता है ।

भावार्थ - जो पुरुष एकीभाव में स्थित होकर सम्पूर्ण भूतों में आत्मरूप से स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव को भजता है, वह योगी सब प्रकार से बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है ।

व्याख्या - (१) भगवान कहाँ है ? भगवान में मनुष्य कैसे अपने को लीन कर सकता है? ये दोनों प्रश्न सब लोगों के हृदय में रहते हैं । उन प्रश्नों का जवाब भगवान ने इस श्लोक में दिया है । भगवान कहीं एक जगह नहीं सब जगहों में, चराचर जगत् भर में व्याप्त हैं । यहाँ स्पष्ट कहा गया कि दूध की मक्खन, पुष्प की सुगन्ध, पुष्पहार के सूत्र तिलों के तेल, गले के रस की तरह सब में भगवान बसे हुए हैं । चूँकि सभी प्राणी भगवान के ही अंश हैं । अत: किसी का अहित या अपकार नहीं करना चाहिए । सभी प्राणियों के प्रति दया, करुणा, प्रेम से व्यवहार करना चाहिए । वही जनार्दन की सेवा होगी ।

अब दूसरा प्रश्न है कि जीव किस तरह भगवान में स्थिति पा सकता है? जब जीव समझ जाएगा कि सभी प्राणियों में भगवान बसे हुए हैं तब अभेद ज्ञान की प्राप्ति के कारण ध्यान और ज्ञान के सहारे अंत में भगवान में स्थिति पाता है । जिस प्रकार एक ही सूर्य बिंब विभिन्न जलाशयों में विभिन्न प्रतिबिंबों के रूप में दीखता हैं, जिस प्रकार एक ही व्यक्ति विभिन्न वेष धारण

करता है, जिस प्रकार एक ही सुवर्ण विभिन्न आभरणों का रूप धारण करता है, जिस प्रकार एक ही मिट्टी विविध घडों के रूप धारण करती है उसी प्रकार परमात्मा एक है। पर विविध प्राणियों में वह व्याप्त है। जिस प्राणी को भगवान के एकत्व का बोध होता है वह भगवान की सेवा करते हुए उनके ध्यान में लीन होकर अंत में उन्हीं में स्थिति पाता है। यही ईश्वर की प्राप्ति का उपाय है। यहाँ कहा गया कि एकत्वबुद्धिवाला भगवान में ही निवास करता है। वह चाहे समाधि में स्थित हो, व्यवहारों में लगा हो, मौन हो वह हमेशा आत्मा (ईश्वर) में ही स्थित रहता है। समुद्र की यात्रा करनेवालों के पास जो "कंपास" यंत्र रहता है उसका कांटा चाहे उसे जिस किसी भी तरह क्यों न घुमावें, वह सदा उत्तर दिशा ही दिखता है। इसी प्रकार एकात्मज्ञानवाले महा पुरुष संसार में यद्यपि अनेक कार्य करते हैं तथापि वे लोकहिताय होते हैं। इसलिए उनकी एकात्मता में कभी बाधा नहीं पडती।

"सर्वथावर्तमानोऽपि" का प्रयोग किया गया। इसके आधार पर किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि ज्ञानी स्वच्छन्द हो कर अपनी इच्छा के अनुसार आचरण कर सकता है। दुष्कर्मी भी होता है। वास्तव में दुष्कर्मी कभी ज्ञानी नहीं बन सकता। परमात्मा में लीन होने के लिए सात्विक गुणों की बडी आवश्यकता होती है। सच्चे सात्विक गुणवाला कभी तमोगुणी और रजोगुणी नहीं हो सकता। अगर ऐसा हो तो निश्चित रूप से समझना चाहिए कि वह ज्ञानी है ही नहीं। अत: शुष्क वेदांत के पीछे न पड कर मुमुक्षुओं को सावधान रहना चाहिए। अपने व्यवहार में कभी परिवर्तन नहीं करना चाहिए। ऐसे शब्दों के अर्थ पर बडी सावधानी से ध्यान देना चाहिए।

प्रश्न - भगवान कहाँ है ?

उत्तर - समस्त चराचर जीव जगत् में भगवान है।

प्रश्न - भगवान में स्थित होने के लिए जीव को क्या करना चाहिए ?

उत्तर - एकात्मबुद्धि से ऐसे अद्वय परमात्मा की सेवा करनी चाहिए। उसीके ध्यान में लीन रहना चाहिए।

प्रश्न - आत्मज्ञ पुरुष संसार में व्यवहार करता है तो क्या उसकी स्थिति को नुकसान पहुँचता है ?

उत्तर - नहीं। वह जैसा भी व्यवहार क्यों न करे, उसकी भगवत् स्थिति भंग नहीं होती।

सम्बन्ध - इस प्रकार भक्तियोगद्वारा भगवान् को प्राप्त हुए पुरुष के महत्त्व का प्रतिपादन करके अब सांख्ययोगद्वारा परमात्मा को प्राप्त हुए पुरुष के समदर्शन का और महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं --

३२. आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

शब्दार्थ - अर्जुन = हे अर्जुन ! सर्वत्र = सब प्राणियों में। सुखंवा = सुख। दुःखं यदि वा = दुःख। आत्मौपम्येन = अपनी भांति समझ कर। समम् = समान। यः = जो। पश्यति = देखता है। सः योगी = वह योगी। परमः = श्रेष्ठ। मतः = माना गया।

भावार्थ - हे अर्जुन ! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतों में सम देखता है और सुख अथवा दुःख को भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।

व्याख्या - इस श्लोक में भगवान आचरण योग्य वेदांत का उपदेश देते हैं। किसी व्यक्ति के ज्ञान की योग्यता का पता उसके आचरण से लगता है। बार बार भगवान का नाम मुँह से लेते हुए दूसरों का अपकार करते रहना गलत है। वह अनुभवपरक वेदांत नहीं है। करनी के अनुसार कथनी होनी चाहिए। नित्य व्यवहार में वेदांत को स्थान मिलना चाहिए। महात्माओं ने वैसे ही किया। नहीं तो सिद्धांत पुष्पितां वाचम् मात्र रह जाएगा। सब में ईश्वर को स्थित मान कर सभी पर दया करुणा और प्रेम रखना चाहिए। जो सुख या दुःख स्वयं को होगा समझना चाहिए कि वही सुख या दुःख सभी जीवों को

होगा। यही आत्मौपम्य स्थिति है। इस स्थिति तक पहुँचनेवाला योगी भगवान के कहने के अनुसार सर्वोत्कृष्ट योगी है। इससे स्पष्ट है कि भगवान की दृष्टि में आचरण पर ही योगी की श्रेष्ठता निर्भर है। भगवान ने यहाँ स्पष्ट कहा कि हे जीव! 'सब में ईश्वर है' इस भावना को आचरण में ले आओ। सब जीवों पर दया प्रेम और करुणा की वर्षा करो। तभी तुम सच्चे भक्त एवं योगी बन सकते हो। जो केवल वाक् शूर योगी हैं उनके लिए भगवान के ये वाक्य हृदय विदारक हैं। वेदांत के क्षेत्र में प्रगल्भता एवं वाक्शूरता को समाप्त करने के लिए भगवान ने ऐसे वाक्यों का प्रयोग किया। इसलिए मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" जैसे सूत्रों को आचरण में ले आवें और सभी प्राणियों को अपने समान मानें। ऐसे योगी ही भगवान की दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ हैं।

पश्चिमीदेशों में लोग धर्म, समाज एवं भाईचारे को प्रधानता देते हैं। ठीक है। परन्तु वह काफी नहीं है। क्यों कि भाइयों में भी काफी मत भेद एवं विवाद होते हैं। इसलिए भाईचारा प्रेम की पराकाष्ठा को सूचित नहीं करता। गीता आदि ग्रन्थ तथा उपनिषद् प्रेम की चरम स्थिति को सूचित करते हैं। आत्मौपम्य की भावना को प्रचारित करते हैं। भारतीय वेदांत ने भाईचारे की भावना से भी आगेबढ कर समस्त विश्व को एक समान मानने और उसे गले लगाने का सन्देश दिया। यही गीता एवं उपनिषदों की महानता है। हैंदवमत की यही विशेषता है। यहाँ "सर्वत्र" कहा गया। इससे स्पष्ट है कि केवल मनुष्य पर ही नहीं बल्कि चाराचर सारी सृष्टि पर दया एवं करुणा दिखाने की बात कही गयी है। "सयोगी परमो मतः" कहा गया। इससे स्पष्ट है कि योगियों (आत्मौपम्य की स्थिति तक पहुँच कर) को सर्वश्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

सम्बन्ध - भगवान् के समतासम्बन्धी उपदेश को सुनकर अर्जुन मन की चञ्चलता के कारण उसमें अपनी अचल स्थिति होना बहुत कठिन समझकर कह रहे हैं --

अर्जुन उवाच

३३. योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥

शब्दार्थ - अर्जुन उवाच = अर्जुन ने प्रश्न किया । मधुसूदन = हे कृष्ण । साम्येन = समत्व भाव से प्राप्त होनेवाले । यः अयम योगः = जो यह योग । त्वया = तुम्हारे द्वारा । प्रोक्तः = कहा गया । एतस्य = इसकी । स्थिराम् = स्थिर । स्थितिम् = स्थिति को । चञ्चलत्वात् मनः = मन की चंचलता से । अहम = मैं । न पश्यामि = नहीं देख (समझ) पाता ।

भावार्थ - अर्जुन बोले - हे मधुसूदन ! जो यह योग आपने समभाव से कहा है, मन के चञ्चल होने से मैं इसकी नित्य स्थिति को नहीं देखता हूँ ।

व्याख्या - भगवान श्रीकृष्ण आत्मतत्त्व के बारे में गंभीरता से कहते जा रहे थे तो अचानक अर्जुन ने अपने सन्देह प्रकट कर दिया । बीच में अर्जुन इस प्रकार भगवान को नहीं रोकते तो संभव था कि भगवान आत्मतत्व के और भी गहन विषय प्रकट करते । फिर भी अर्जुन का प्रश्न मुमुक्षुओं के लिए अत्यंत आवश्यक है । अर्जुन ने पूछा कि हे देव! जीवात्मा एवं परमात्मा में साम्यरूप एवं मन की निश्चलता से सिद्ध करने योग्य इस ध्यान योग में मेरा मन नहीं लगता । इस स्थिति से कैसे उभरूँ ? शिष्य को गुरु के सामने हृदय खोल कर बोलना चाहिए । कोई बात छिपानी नहीं चाहिए । वैद्य के सामने अपने रोग का सारा विवरण प्रस्तुत करना चाहिए । कुछ भी छिपाना नहीं चाहिए । ऐसा न करे तो परिणाम खतरनाक होगा । आत्मिक बात खुल कर बता दें, तभी शिष्य गुरु से सत्फल प्राप्त कर सकेगा । अर्जुन सच्चे शिष्य थे । इसीलिए अर्जुन ने अपने हृदय की वास्तविक स्थिति प्रकट की और उससे छूटने का उपाय पूछा । अर्जुन संसार के सभी मुमुक्षुओं के प्रतिनिधि बन गये । इसीलिए सभी मुमुक्षुओं के मन की शंका उन्होंने प्रकट की । भगवान ने

उनके प्रश्न का जो जवाब दिया वह केवल अर्जुन के लिए ही नहीं, बल्कि वह तो समस्त जगत् के लिए है।

"साम्येन" कहा गया। इससे स्पष्ट है कि ध्यान योग मन की समता एवं निश्चलता से ही संभव है। सुई के रंध्र में से धागा निकालना हो तो उसके लिए एकाग्रता एवं निश्चलता आवश्यक है। इसी तरह मन को ब्रह्मरंध्र या मोक्षमार्ग में प्रवेश करना हो तो उसे निश्चल रहना चाहिए। अतः मन को चपल नहीं रहना चाहिए। उसे स्थिर एवं निश्चल रहना चाहिए। अर्जुन को बह निश्चल स्थिति अभी प्राप्त नहीं हुयी। इसीलिए भगवान से ऐसा प्रश्न पूछा।

यहाँ "साम्येन" शब्द का अर्थ समदृष्टि के रूप में या सर्वात्मा की दृष्टि से लिया जा सकता है।

प्रश्न - योग की प्राप्ति कैसे होती है?

उत्तर - मन की निश्चलता एवं समत्व की भावना से योग की प्राप्ति होती है।
(मन चपल रहे तो योग में मन स्थिर नहीं रहता।)

सम्बन्ध - समत्वयोग में मनकी चञ्चलता को बाधक बतलाकर अब अर्जुन मनके निग्रह को अत्यन्त कठिन बतलातें है-

३४. चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

शब्दार्थ - कृष्ण = हे कृष्ण। मनः = मन। चञ्चलम् = चंचल। प्रमाथि = क्षुब्ध करनेवाला। बलवत् = बलवान। दृढमहि = दृढ। तस्य = उसका। निग्रहम् = निरोध। वायोः इति = हवा को दबा कर रखने के समान। दुष्करम् = मुश्किल। अहम् = मैं। मन्ये = मानता हूँ।

भावार्थ - क्यों कि हे श्रीकृष्ण! यह मन बड़ा चञ्चल, प्रमथन स्वभाववाला, बड़ा दृढ़ और बलवान् है। इसलिये उसका बश में करना मैं वायु के रोकने की भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ।

व्याख्या - मन निश्चल रहे तो योग की सिद्धि संभव है। परन्तु मन चंचल है, चपल है। वह देह तथा इन्द्रियों को क्षुब्ध करते हुए प्रशांत हृदय को, क्षीरसागर को मंदरपर्वत की तरह, मथ रहा है। अनेक जन्मों से अर्जित विषय वासनाओं, संस्कारों तथा दृश्य वृत्तियों को इकट्ठा कर मन दृढ बना हुआ है। इसलिए उसका निरोध संभव नहीं लगता। इस प्रकार मन की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए अर्जुनने निम्न लिखित चार विशेषणों के द्वारा अपना भाव समझा दिया। (१) चपलता (२) क्षुब्ध करनेवाला (३) बलवान (४) दृढता। मन की यह स्थिति सभी मनुष्य अच्छी तरह समझते हैं। मन ऐसे बन्दर के समान माना जाता है जिस के पैर में कांटा चुब गया हो, ताडी पी चुका हो, भूत से प्रभावित हो, बिच्छू के डंक की मार से क्षुब्ध हो। सब को मालूम है कि ध्यान करते समय मन साधकों को कितनी तकलीफ देता है। वह देहेन्द्रियों को स्थिर नहीं रहने देता। हृदय को मथता है। अशांत बनाता है। अर्जुन इस प्रकार मन की अशांति का वर्णन कर भगवान से उसे वश में करने का उपाय बताने के लिए प्रार्थना करते हैं। "दुष्करम्" न कह कर "सुदुष्करम्" कहा गया। इससे स्पष्ट है कि मन को वश में करना मुश्किल का काम है।

प्रश्न - मन का स्वभाव कैसा है ?

उत्तर - (१) चंचल है (२) देहेन्द्रियों को क्षुब्ध करता है (३) बलवान है। (४) दृढ है।

सम्बन्ध - मनोनिग्रहके सम्बन्ध में अर्जुन की उक्ति को स्वीकार करते हुए भगवान् मन को वश में करने के उपाय बतलाते हैं -

३५. *असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।*
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

शब्दार्थ - भगवान उवाच = भगवान बोले। महाबाहो = बडी बाहुओंवाले हे अर्जुन। मनः = मन। दुर्निग्रहम् = निग्रह के लिए कष्ट साध्य। चलम् =

चंचल। असंशयम् = सन्देह नहीं। (तथापि = तो भी) कौन्तेय = हे अर्जुन। अभ्यासेन तु = अभ्यास से। वैराग्येण च = वैराग्य से। गृह्यते = वश में किया जाता है।

भावार्थ - श्री भगवान् बोले - हे महाबाहो ! निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनतासे वश में होनेवाला है; परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह अभ्यास और वैराग्यसे वश में होता है।

व्याख्या - मन चंचल है। उसे वश में करना मुश्किल है। यह बात भगवान श्रीकृष्ण भी मानते हैं। परन्तु बताते हैं कि इससे डरना नहीं चाहिए। अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा वह वश में किया जासकता है। उसे वश में करने का उपाय जानना चाहिए। हाथी बहुत बडा जानवर है। फिर भी छोटा सा अंकुश मिल जाय तो वह वश में होजाता है। इसी तरह बाघ शेर आदि भयानक जानवर हैं। बन्दूक की एक छोटी सी गोली से वे वश में होते हैं। बैल बलवान है। परन्तु नाक में रस्सी लगाने से वश में हो जाता है। इसी प्रकार मन को बलवान मान कर भयभीत होना नहीं चाहिए। उसे वश में करने के उपयों पर ध्यान देना चाहिए। मन "दुर्निग्रह" है, परन्तु "अनिग्रह" नहीं है। उसे जीतना कष्टसाध्य है, परन्तु असाध्य नहीं है। आवश्यक उपाय करने से वह अवश्य वश में हो सकता है।

अब हम विचार करें कि भगवान ने मन को वश में करने के जो उपाय बताये वे कैसे हैं और उन्हें कैसे अमल में ला सकते हैं। वास्तव में भगवान के बताये इन उपायों पर साधकों को अत्यधिक ध्यान देना चाहिए। क्यों कि मनुष्य और मोक्ष के बीच यही मन मजबूत दीवार सा बना हुआ है। ऐसे मन को वश में करने के उपाय स्वयं भगवान के मुँह से प्रकट हुए हैं। अतः उन पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। क्यों कि मन ही आध्यात्मिक क्षेत्र में मुख्य है। उसे वश में करने के उपायों पर सब को ध्यान देना ही चाहिए।

भगवान ने दो उपाय बताये। (१) अभ्यास (२) वैराग्य। भगवान आश्वसन देते हैं कि इन दो उपायों के द्वारा मन वश में किया जा सकता है। पतंजलिने भी बताया कि 'अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः'। वैराग्य का मतलब है कि दृश्य परक विषयों में नश्वरता का दोष है, अतः उन के बारे में विचार करके उन से नफरत करनी चाहिए। इससे मन बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी होता है। वैराग्य इसलिए जरूरी है कि दृश्य जगत् के सब पदार्थ नश्वर हैं। यहाँ तक कि शरीर भी कुछ समय के बाद नष्ट होता है। अशाश्वत पदार्थों के प्रति ममत्व नहीं रखना चाहिए। शाश्वत वस्तु एक आत्मा ही है याने ईश्वर। अतः उनके प्रति कामना होनी चाहिए। आमतौर पर देखा जाता है कि सांसारिक इच्छाएँ भोग विलास की प्राप्ति के बाद भी पूरी नहीं होती। और बढ जाती हैं। उन इच्छाओं की पूर्ति के लिए मन बहिर्मुखी होता है। तब वह आत्मा से दूर होता है। ध्यान में मन नहीं लगता। अतः मन की निश्चलता के लिए विषय-वैराग्य अत्यावश्यक हैं।

मन को वश में करने का दूसरा साधन अभ्यास है। अभ्यास व सतत प्रयास से हर कार्य साधा जा सकता है। आलसियों के काबू में उनका मन नहीं रहता। क्योंकि मन को वश में करने का वे प्रयत्न नहीं करते। एक परीक्षा पास करनी हो तो उसके लिए कई दिनों तक तैयारी करनी पडती है। ऐसी हालत में आसानी से पता लगाया जा सकता है कि जन्म जन्म के संस्कारों से कठोर बने मन को वश में करने के लिए कितना श्रम व अभ्यास करना पडेगा। इसलिए विषय वासनाओं से मन को मोड कर धीरे धीरे अभ्यास के द्वारा उसे आत्मा में स्थित करने का प्रयत्न करना चाहिए। तब धीरे धीरे मन आत्मा में स्थिर होगा।

इस श्लोक में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को "महाबाहो" कहा इस संबोधन के द्वारा भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि हे अर्जुन ! तुम भौतिक रूप से बडे शक्तिशाली हो। उस अपनी शक्ति को आध्यात्मिक क्षेत्र में भी

लगाओ, अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को वश में करो, तथा उस पर विजय प्राप्त करो। अर्जुन ने जब कहा कि मन का निरोध मुश्किल है तब उन्हें धीरज बंधाने लिए भगवान ने 'महाबाहो' कह कर संबोधित किया।

प्रश्न - मन कैसा है ?

उत्तर - (१) चंचल है। (२) वश में लाना मुश्किल है।

प्रश्न - किन साधनों के द्वारा मन वश में लाया जा सकता है ?

उत्तर - (१) अभ्यास (२) वैराग्य इन दोनों साधनों के द्वारा मन वश में लाया जा सकता है।

सम्बन्ध - भगवान् ने मन को वश में करने के उपाय बतलाये। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि मन को वश में न किया जाय तो क्या हानि है ? इस पर भगवान् कहते हैं -

३६. *असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।*
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥

शब्दार्थ - असंयतात्मना = असंयमित मनवाले को। योगः = योग। दुष्प्रापः = दुष्प्राप्य है। इति = ऐसा। मे = मेरा। मतिः = मत है। वश्यात्मना तु यतता = वश में किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषों द्वारा। उपायतः = उपायों से। अवाप्तुम = प्राप्त होना। शक्यः = सध्य है।

भावार्थ - जिसका मन वश में किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है और वश में किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधन से उसका प्राप्त होना सहज है - यह मेरा मत है।

व्याख्या - यहाँ भगवान बताते हैं कि जो साधक अपने मन को नियंत्रण में नहीं रख सकता वह आत्मसाक्षात्कार पा नहीं सकता। ध्यानयोग में निश्चल नहीं रह सकता। जो मन को नियंत्रण में रख सकता है वही आत्मा में एकता स्थापित कर सकता है। इसलिए मोक्ष प्राप्ति की जो कामना करते हैं उन्हें सब

से पहले अपने मन एवं इन्द्रियों को वश में कर लेना चाहिए। जब तक वे स्वच्छंद होकर विषयवासनाएँ रूपी जंगल में विहार करते रहेंगे तब तक मोक्ष की बात करना व्यर्थ है। जन्म जन्म से जमीं विषयवासनाओं से छुटकारा पाने के लिए पुरुष प्रयत्न की बडी आवश्यकता है। "उपायत:" कहने से स्पष्ट है कि माया को जीतने और परमात्मा में लीन होने केलिए युक्ति भी आवश्यक है। कुछ जगहों पर शक्ति और कुछ अवसरों पर युक्ति काम आती है। बडे से बडा कार्य भी युक्ति से जल्दी पूरा किया जाता है। ऐसे उपायों तथा कई युक्तियों द्वारा मुमुक्षु को चाहिए कि वह प्रबल शतृ माया पर विजय हासिल करे और परमात्मा में लीन होने का प्रयत्न करे। यहाँ भगवान ने "मेमति:" (मेरा निश्चय) कहा। इससे स्पष्ट है कि भगवान का यह निश्चित मत है कि जो साधक अपने मन को वश में नहीं कर सकता वह भगवान के साक्षात्कार के लिए योग्य नहीं है। अत: मुमुक्षुओं को भगवान के इस निश्चित मत पर ध्यान देना चाहिए। सन्देह करने की जरूरत नहीं है। भगवान के वाक्यों पर विश्वास करके अभ्यास एवं वैराग्य रूपी साधनों के द्वारा मन को वश में करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। मन चंगा तो कठौती में गंगा होगी। अत: इसी जन्म में ब्रह्म साक्षात्कार पाने के लिए मुमुक्षुओं को महान् प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न - योग सिद्धि (आत्म साक्षात्कार) किसे हो सकती है, किसे नहीं?

उत्तर - मन को जीत कर उपायों के द्वारा प्रयत्न करनेवालों को योग की सिद्धि होती है। जो ऐसा प्रयत्न नहीं करता उसे नहीं होती।

प्रश्न - मोक्ष किसे प्राप्त होता है?

उत्तर - प्रयत्नशील साधकों को ही मोक्ष प्राप्त होता है। प्रयत्न रहित व्यक्तियों को मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

सम्बन्ध - योगसिद्धि के लिए मन को वश में करना परम आवश्यक बतलाया गया। इस पर यह जिज्ञासा होती है कि जिसका मन वश में नहीं है, किंतु योग

में श्रद्धा होने के कारण जो भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करता है, उसकी मरनेके बाद क्या गति होती है ? इसी के लिये अर्जुन पूछते हैं -

३७. अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ।।

शब्दार्थ - अर्जुन उवाच = अर्जुन बोले - कृष्ण = हे कृष्ण ! श्रद्धया = श्रद्धा से । उपेतः = युक्त । (लेकिन) । अयतिः = मनो निग्रह शक्ति से रहित । योगात् = योग से । चलित मानसः = विचलित मनवाला । योग संसिद्धम् = योग सिद्धि को । अप्राप्य = प्राप्त न कर । कां गतिम् = किस गति को । गच्छति = प्राप्त करता है ।

भावार्थ - अर्जुन बोले - हे श्रीकृष्ण ! जो योग में श्रद्धा रखनेवाला है, किंतु संयमी नहीं है, इस कारण जिसका मन अन्तकाल में योग से विचलित हो गया है, ऐसा साधक योग की सिद्धि को अर्थात् भगवत्साक्षात्कार को न प्राप्त होकर किस गति को प्राप्त होता है ।

व्याख्या - भगवान श्रीकृष्ण ने जब कहा कि मन को वश में करने से योग की सिद्धि होगी तब अर्जुन को संदेह हुआ । कोई व्यक्ति यद्यपि योग, ध्यान तथा गुरुवाक्य के प्रति श्रद्धा रखता है, विश्वास करता है, साधना भी करता है तथापि उसका मन ध्यान में स्थिर नहीं रह पाता । मन उसके वश में नहीं होता । ऐसा साधक सफलता प्राप्त किये बिना मर जाय तो उसकी स्थिति क्या होगी ? यह प्रश्न आम तौर पर ज्यादा लोगों के हृदय में पैदा होता है । क्यों कि इस जन्म में ही मोक्ष की प्राप्ति के लिए कठोर साधना करनेवाले कम होते हैं । मध्यश्रेणी के ऐसे लोग ज्यादा होते हैं जो थोडी सी साधना निष्ठा से करते हैं । परन्तु सफल हुए बिना ही देह त्याग देते हैं । अर्जुन का प्रश्न ऐसे साधकों के बारे में ही है । कई साधक डरते रहते हैं कि साधना की सफलता के अभाव में जन्म निष्फल होगा । उनका भय अर्जुन के इस प्रश्न में निहित

है। भगवान इस प्रश्न का जो जवाब देंगे वह साधकों के लिए पथ प्रदर्शक बनेगा।

प्रश्न - अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से क्या पूछा ?

उत्तर - अर्जुन ने पूछा कि जो जीव दैव प्राप्ति के लिए यद्यपि श्रद्धा से साधना करता है, परन्तु मन को वश में नहीं कर पाता, योगसिद्धि के बिना ही मर जाता है, उसकी गति क्या होगी ?

३८. कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥

शब्दार्थ - महाबाहो = बडी बाहुवाले हे अर्जुन। ब्रह्मणः = ब्रह्म के। पथि = मार्ग में। अप्रतिष्ठः = अस्थिर। विमूढः = मूढ। उभयविभ्रष्टः = इह और पर दोनों लोकों से च्युत। छिन्ना भ्रम इव = छिन्न मेध की तरह। न नश्यति कच्चित् = क्या नष्ट नहीं होगा ?

भावार्थ - हे महाबाहो ! क्या वह भगवत्प्राप्ति के मार्ग में मोहित और आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादल की भाँति दोनों ओर से भ्रष्ट होकर नष्ट नहीं हो जाता ?

व्याख्या - अध्यात्म मार्ग में कदम रख कर भी जो स्थिरता पा नहीं सकता उसके बारे में प्रश्न किया गया। "उभयविभ्रष्टः" शब्द का प्रयोग किया गया। इस शब्द का अर्थ कुछ विद्वान "कर्ममार्ग तथा योगमार्ग से भ्रष्ट" कहते हैं तो कुछ विद्वान "स्वर्ग-मोक्ष" से च्युत बताते हैं।

सम्बन्ध - इस प्रकार शङ्का उपस्थित करके, अब अर्जुन उसकी निवृत्ति केलिए भगवान् से प्रार्थना करते हैं --

३९. एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥

शब्दार्थ - कृष्ण = हे कृष्ण। मे = मेरे। एवं = इस। संयशम् = सन्देह को।

अशेषतः = पूर्ण रूप से। छेत्तुम = निवृत्त करने केलिए। अर्हसि = योग्य। अस्य = इस। संशयस्य = सन्देह को। छेत्ता = निवृत्त करनेवाला। त्वत् = आप से बढ कर। अन्य: = दूसरा। न हि उपपद्यते = मिलना संभव नहीं।

भावार्थ - हे श्रीकृष्ण ! मेरे इस संशय को सम्पूर्ण रूप से छेदन करने के लिए आप ही योग्य हैं, क्यों कि आप के सिवा दूसरा इस संशय का छेंदन करनेवाला मिलना सम्भव नहीं है।

व्याख्या - अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति रखते हैं। उन पर अपार विश्वास प्रकट करते हैं। "परि प्रश्नेन सेवया" के परिप्रश्न का यह अच्छा उदाहरण है। जब शिष्य अपने गुरु से प्रश्न पूछता है तब उसे विनम्रता से व्यवहार करना चाहिए। तभी गुरु को संतोष होता है। कृपा करके शिष्य को उपदेश देता है। गुरु, दैव तथा बडों के समक्ष अहंकार का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। ऐसा अहंकारी शिष्य गुरु का अनुग्रह प्राप्त नहीं कर सकता।

श्रीकृष्ण तीनों लोंकों के नाथ हैं। साक्षात् ईश्वर हैं। समस्थ ब्रह्मांड के भूत, भविष्य एवं वर्तमान के जानकार है। जीवराशि की गतियों के जानकार हैं। अत: योग भ्रष्टों का भविष्य भी अच्छी तरह जानते हैं। ऐसे महान् व्यक्ति सामने थे तो उनसे प्रश्न करके अर्जुन ने अपने मन के सन्देह की निवृत्ति का प्रयत्न किया। अर्जुन भगवान की शक्ति से परिचित थे। इसीलिए कहा कि आप ही मेरे संशय को निवृत्त करने में समर्थ हैं, दूसरा कोई नहीं।"

श्रीभगवानुवाच

४०. पार्थ ! नैवेह नामुत्र विंनाशस्तस्य विद्यते।
नहि कल्याणकृत्क श्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥

शब्दार्थ - श्री भगवान उवाच = श्री भगवान बोले। पार्थ = हे अर्जुन। तस्य = उसे (योगभ्रष्ट को) इह = इस लोक में। विनाशः = विनाश। न विद्यते एव = है ही नहीं। आमुत्र = परलोक में भी। न = नहीं है। तात = प्यारे।

कल्याणकृत = अच्छे काम करनेवाला। कश्चित् = कोई भी। दुर्गतिम् = दुर्गति को। न गच्छति हि = प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ - श्रीभगवान् बोले - हे पार्थ! उस पुरुष का न तो इस लोक में नाश होता है और न परलोक में ही। क्योंकि हे प्यारे ! आत्मोद्धार के लिए अर्थात् भगवत्प्राप्ति के लिए कर्म करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

व्याख्या - सत्कार्य करनेवालों को भगवान इस श्लोक में आश्वासन देते हैं कि योगाभ्यास तथा ध्यान आदि करनेवाले यदि अपने लक्ष्य की प्राप्ति के पहले मर जाय तो उनकी दुर्गति नहीं होगी। भगवान जोर देकर कहते हैं कि अच्छे काम करनेवालों का विनाश कभी नहीं होगा। भगवान का यह आश्वासन साधकों के लिए संजीवनी जैसा है। इस श्लोक को जबानी याद करके बार बार इसका स्मरण करते रहें तो मन को संतोष होगा। दु:ख दूर होगा। पारमार्थिक साधना के मार्ग पर साधक उत्साह से आगे बढेगा। बुरा काम करने से डरना चाहिए। अच्छे काम करने से कभी डरना नहीं चाहिए। अपने अपने सत्कार्यों के अनुसार लोगों को सफलता मिलती है। दुष्फल कभी नहीं मिलता।

"इह, आमुत्र" दो शब्दों का प्रयोग इस श्लोक में किया गया है। इसका मतलब है कि सत्कार्य करनेवालों का इहलोक तथा परलोक में नुकसान कभी नहीं होगा। "कल्याण कृत्" जैसे सामान्य शब्द के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि कोई भी सत्कार्य तथा पुण्यकार्य उत्तम फल देता है। योगाभ्यास भी एक सत्कार्य ही है। उसे अमल में लावें तो सद्गति मिलेगी। भगवान के इस सन्देश से अर्जुन के संशय का निवारण हो गया।

भगवान के इस सन्देश से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि पापी, दुरात्मा तथा अशुभ कार्य करनेवालों का भला कभी नहीं होगा। अतः दुष्कर्म नहीं करना चाहिए।

प्रश्न - योग भ्रष्ट की कैसी गति होगी।

उत्तर - इहलोक तथा परलोक में कभी उसकी दुर्गति नहीं होगी। सद्गति ही होगी।

प्रश्न - भगवान श्रीकृष्ण का सन्देश यहाँ क्या है ?

उत्तर - शुभकार्य करनेवालों की दुर्गति कभी नहीं होगी। सद्गति होगी। यह परम सत्य है। 'भगवान श्रीकृष्ण का यही सन्देश है।

सम्बन्ध - योगभ्रष्ट पुरुष की दुर्गति तो नहीं होती, फिर उसकी क्या गति होती है। यह जानने की इच्छा होनेपर भगवान् कहते हैं --

४१. प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वती: समा: ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥

शब्दार्थ - योग भ्रष्टः = योग से च्युत। (मृत्यु के बाद) पुण्यकृताम् = पुण्यवानों के। लोकान् = लोकों को। प्राप्य = पाकर। शाश्वती: = अनेक। समा: = वर्ष। उषित्वा = निवास कर। शुचीनाम् = परिशुद्ध। श्रीमतां = श्रीमानों के। गेहे = गृह में। अभिजायते = पैदा होता है।

भावार्थ - योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानोंके लोकों को अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकों को प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षों तक निवास करके फिर शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है।

व्याख्या - पिछले श्लोक में बताया गया कि योगभ्रष्ट की दुर्गति नहीं होगी। इस श्लोक में बताया गया कि उसकी कैसी सद्गति होगी। वह (मरण के बाद) पुण्यवानों के लोक में जाएगा। वहाँ वर्षों तक रहेगा। इसके बाद सदाचारी धनियों के घर में पैदा होगा। तब अपने गत जन्म में जिस सत्कर्म को अधूरा छोड दिया उसे इस जन्म में पूरा करने का प्रयत्न करेगा। पुण्यपुरुषों के लोक में सुखी रहेगा, दुःखी नहीं। श्रीमानों के घर में गरीबी नहीं रहेगी। वह सदाचारी होगा। भोग विलास के पीछे वह नहीं पडेगा। फिर से योगाभ्यास

केलिएं उसका घर अनुकूल केन्द्र बनेगा। इस प्रकार योगभ्रष्ट को अनुकूल वातावरण ही मिलेगा। अतः उसकी सद्गति ही होगी।

इस श्लोक में दो विशेषण "शुचीनाम" तथा श्रीमताम्" प्रयुक्त हुए। उनका अर्थ है परिशुद्ध एवं धनी। अगर योगभ्रष्ट को दरिद्र परविार में पैदा होना पडे तो उन्हें पेट भरने के लिए काफी श्रम करना पडता है। इससे योगाभ्यास में व्यवधान आता है। केवल धनियों के घर में पैदा होते तो भोग विलासों में डूब जाने का खतरा रहता है। इसलिए भगवान योग भ्रष्ट को ऐसे घरों में पैदा करते हैं जो ज्यादा धनी न हों और निर्धन भी न हों। तब ध्यान के मार्ग में अवरोध पैदा नहीं होगा। इससे स्पष्ट है कि अपने भक्तों के प्रति भगवान कितने करुणार्द्र रहते हैं। ऐसी हालत में भगवान के ध्यान में लीन होना मनुष्य का कर्तव्य है।

स्पष्ट बताया गया कि योग भ्रष्ट साधक पुण्य पुरुषों के लोक में जाएगा। इससे योग की महत्ता का पता लगता है। पुनर्जन्म पाकर फिर से योग में लीन होने से स्पष्ट होता है कि पूर्वजन्म का योग निष्फल नहीं हुआ। इस श्लोक से ज्ञात होता है कि धन के साथ सदाचारी होना भी आवश्यक है। साथ साथ धनियों को परिशुद्ध रहना है। यदि धन और शुचिता दोनों की तुलना की जाय तो शुचिता को ही महत्व देना पडेगा। क्यों कि शुचिता ही भक्त को भगवान तक पहुँचाने में सहयोग देती है।

गीता के दूसरे अध्याय के कुछ श्लोक (देहिनोऽस्मिन् यथादेहे आदि) और इस छठे अध्याय के अंतिम श्लोक (प्राप्य पुण्यकृतां लोकान् आदि) जन्मांतर सिद्धान्त का समर्थन करते हैं।

प्रश्न - मरण के बाद योग भ्रष्ट की स्थिति कैसी होगी ?

उत्तर - वह पहले पुण्यपुरुषों के लोक में जाता है। वहाँ बहुत समय तक रहता है। इसके बाद सदाचारी धनियों के घर में पैदा होता है। पहले उसने जो योग शुरू किया उसे इस जन्म में वह फिर से शुरू करता है।

सम्बन्ध - साधारण योगभ्रष्ट पुरुषों की गति बतलाकर अब आसक्तिरहित उच्च श्रेणी के योगभ्रष्ट पुरुषों की विशेष गति का वर्णन करते हैं --

४२. अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥

शब्दार्थ - अथवा = या। धीमतां = ज्ञानी। योगिनां = योगियों के। कुले एव = कुल में ही। भवति = पैदा होता है। ईदृशम् = इस प्रकार के। जन्म = जन्म। यत् = जो है। एतत् हि = वही। लोके = लोक में। दुर्लभतरं = अत्यंत दुर्लभ है।

भावार्थ - अथवा वैराग्यावान् पुरुष उन लोकों में न जाकर ज्ञानवान् योगियों के ही कुल में जन्म लेता है। परन्तु इस प्रकार का जो यह जन्म है सो संसार में निःसन्देह अत्यन्त दुर्लभ है।

व्याख्या - इस श्लोक में बताया गया कि योग साधना ज्यादा करके भी सफलता प्राप्त किये बिना जिनका निधन होगा उनकी स्थिति क्या होगी। ऐसे योगी निधन के बाद ज्ञानी पुरुषों के वंश में या तपस्वी महापुरुषों के संप्रदाय में पैदा होते हैं। (पिछले श्लोक में वर्णित योगी ४० फीसदी अंक पाते हैं तो ये योगी ८० फीसदी अंक पाते हैं।) भगवान ने कहा कि योगियों के वंश में जन्म लेना भाग्य की बात है। क्यों कि वे ज्ञानी हैं। आत्मानुभव प्राप्त करनेवाले पुण्यपुरुष हैं। इसलिए उन्हें जन्म से ही शुक महर्षि की तरह भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य प्राप्त होते हैं। बचपन से ही दैवी वातावरण पाना सांधारण बात नहीं है। महान् तपस्या का ही वह फल है। ऐसे उत्तम योगभ्रष्ट साधक की साधना शुरू से बिना किसी विघ्न बाधा के चलती है। इसलिए ध्यान, ज्ञान एवं भक्तिमय वातावरण में उन्हें अपना योगाभ्यास करने का सुअवसर प्राप्त होता है।

भगवान कहते हैं कि संसार में सब जन्मों से योगियों का जन्म महान् है। इससे योगी के जन्म का बडप्पन ज्ञात होता है। भगवान मुक्तकंठ से कहते हैं कि संसार में धनियों का जन्म श्रेष्ठ नहीं है। राजा महाराजाओं का जन्म श्रेष्ठ नहीं है। इन्द्र का जन्म श्रेष्ठ नहीं है। चन्द्र का जन्म श्रेष्ठ नहीं है। ज्ञानी योगियों का जन्म ही सर्वश्रेष्ठ है। "इसीलिए वैसा जन्म दुर्लभ न कह कर दुर्लभतर कहा है। अत: विज्ञ लोगों को समझना चाहिए कि दैवत्व, योगाभ्यास तथा आत्मानुभूति में ही वास्तविक बडप्पन है। इसलिए इस जन्म में योग की साधना करके मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।" 'कुले' शब्द का अर्थ वंश या संप्रदाय बताना ठीक होगा।

प्रश्न - उत्तम श्रेणी के योगी साधक सफलता प्राप्त किये बिना मर जायँ तो उनकी क्या स्थिति होगी ?

उत्तर - ऐसे साधक ज्ञानी योगियों के परिवार में पैदा होंगे।

प्रश्न - संसार में सब से श्रेष्ठ जन्म कौन सा है?

उत्तर - ज्ञानी योगियों के वंश में जन्म लेना सब से बडी बात है।

४३. तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूय: संसिद्धौ कुरुनन्दन ।।

शब्दार्थ - कुरुनन्दन = हे अर्जुन। तत्र = उस योगी के कुल में। पौर्वदेहिकम् = पूर्व के शरीर से संबंधित। तम = उस। बुद्धि संयोगम = बुद्धि संयोग को। लभते = पाता है। तत: = उस पूर्व जन्म के संस्कारों से। भूय: = फिर से। संसिद्धौ = संपूर्ण योग की सिद्धि के लिए। यतितेच = प्रयत्न करता है।

भावार्थ - वहाँ उस पहले शरीर में संग्रह किये हुए बुद्धि-संयोग को अर्थात् समबुद्धिरूप योगके संस्कारों को अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन ! उसके प्रभाव से वह फिर परमात्मा की प्राप्तिरूप सिद्धि के लिये पहले से भी बढ़कर प्रयत्न करता है।

व्याख्या - योगियों के वंश में जन्म लेने साधकों के कार्यों का विवरण यहाँ दिया गया। पूर्वजन्म में जिस कार्य को वे छोडते हैं उसे इस जन्म में फिर से शुरू करके पूरा करने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि उनका शरीर मिट जाता है पर उनके पूर्व जन्म संस्कार नहीं मिटते। यहाँ बताया गया कि पूर्व जन्म के बुद्धिगत संस्कार इस जन्म में तेज होते हैं। बुद्धि पाप के मार्ग पर चले तो पाप के संस्कार ही प्राप्त होते हैं। अतः पूर्व जन्म का किया कराया नहीं मिटता। इस जन्म में वह फिर से उदित होता है। यह "ब्राटोवर" (Brought over) पद्धति जैसा है। हिसाब लिखनेवाले एक पृष्ठ जब समाप्त होता है तब कल जमा खर्च का विवरण पृष्ठ के नीचे लिखते हैं। अगले पृष्ठ के आरंभ में जमा खर्च की कुल जोड के वे आँकडे फिर लिखते हैं। इसी प्रकार ऐसे योगी पूर्व जन्म के अपने योगाभ्यास को इस जन्म में चालू रखते हैं। 'संसिद्धौ' कहा गया। इससे स्पष्ट है कि कार्य की सिद्धि तक वह सत्कार्य करता ही रहता है। योगियों के वंश में जन्म लेने के कारण वातावरण योग साधना के लिए अनुकूल रहता है।

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि पाप, पुण्य, ज्ञान-अज्ञान, सद्वासनाएँ-दुर्वासनाएँ आदि जन्म जन्म तक जीव का पीछा करते रहते हैं। ज्ञान की अग्नि में जब से सब जल जाते हैं तब कर्मों से जीव को मुक्ति मिलती है। संसार के चक्रभ्रमण से उसे छुटकारा मिल जाता है। इसलिए जीव को शरीर के पतन के पहले ही अपनी बुद्धि को पारमार्थिक शक्ति से तेज करनी चाहिए। साधना के बल पर उसे दैवी संस्कार प्रदान करना चाहिए। क्योंकि वह संस्कार ही मृत्यु के समय जीव के साथ रहता है। बाकी सब चीजें यहीं रह जाती हैं। जीव का शरीर भी यहीं मिट जाता है। अतः हर जीव को स्थूल शरीर पर ध्यान नहीं देना चाहिए। सूक्ष्म शरीर पर ध्यान देकर उसे परिशुद्ध एवं आत्मज्ञान से संपन्न बनाना चाहिए। पाप और पुण्य जीव का पीछा नहीं छोडते। इसलिए जीव को हमेशा दान, पुण्य, ध्यान, ज्ञान, परोपकार आदि

करके पुण्य कमाने का प्रयत्न करना चाहिए। वह पुण्य दूसरे जन्म में और भी बढ कर उसे मोक्ष प्राप्त करने में सहयोग प्रदान करता है। अतः हृदय को दैवमय और धर्ममय बनाना चाहिए, ताकि इस जन्म में ही वह मोक्ष प्राप्त कर सके। यदि संभव नहीं हुआ तो दूसरे जन्म में ही सही उसे पूरा करने का प्रयास करना चाहिए। मानव जीवन मूल्यवान है। भोग विलासों में उसे व्यर्थ नहीं करना चाहिए।

प्रश्न - योगियों के वंश में जन्म पाकर साधक क्या करेगा ?

उत्तर - पूर्व जन्म के अपने अधूरे कार्य को इस जन्म में पूरा करेगा।

प्रश्न - पैदा होते ही उसे योग का संस्कार कैसे प्राप्त होगा ?

उत्तर - पूर्वजन्म की योगबुद्धि से उसका संयोग होगा। इससे उसके योगबुद्धि का और विकास होगा।

सम्बन्ध - अब पवित्र श्रीमानों के घर में जन्म लेनेवाले योगभ्रष्ट पुरुष की परिस्थिति का वर्णन करते हुए योग को जानने की इच्छा का महत्त्व बतलाते हैं -

४४. पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥

शब्दार्थ - सः = वह (योग भ्रष्ट)। अवशः अपि = योगाभ्यास के लिए स्वयं निश्चय न करने पर भी। तेन = उस। पूर्वाभ्यासेन एव = पूर्व जन्म के अभ्यास बल से ही। ह्रियतेहि = खींचा जाता है। योगस्य = योग के। जिज्ञासुः अपि = तत्व जानने के इच्छुक होने मात्र से। शब्दब्रह्म = वेदों का। अतिवर्तते = अतिक्रमण करता है।

भावार्थ - वह श्रीमानों के घर में जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पराधीन हुआ भी उस पहले के अभ्यास से ही निस्सन्देह भगवान् की ओर आकर्षित किया जाता है, तथा समबुद्धिरूप योगका जिज्ञासु भी वेद में कहे हुए सकामकर्मों के फल को उल्लङ्घन कर जाता है।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि पूर्व जन्म के योग का कितना महत्व है। इस जन्म में योग के बारे में मनुष्य यद्यपि नहीं सोचता तथापि पूर्व जन्मों के संस्कारों के पुण्य प्रताप से योग की ओर आकर्षित होता है। भगवान यहाँ जोर देकर बताते हैं कि पूर्व जन्म में किया गया पुण्य किस तरह जीव के काम आता है। पाप या पुण्य अपने अपने कर्तव्य का पालन अवश्य करते हैं। पुण्य, बुद्धि को पुण्य की ओर जाता है तो पाप, पाप के मार्ग पर ले जाता है। यही वजह है कि कुछ लोग पैदा होते ही वैराग्य, भगवान की भक्ति, योगाभ्यास तथा पारमार्थिक चिंतन की ओर आकर्षित होते हैं। पूर्व जन्म के संस्कार एवं जन्म जन्म में किये पुण्य कर्म ही इसके मुख्य कारण हैं। अतः मनुष्य का कर्तव्य है कि वह मन को पुण्य से प्रभावित कर ले, उसे पारमार्थिक चिंतन में लगा ले और योगाभ्यास में कुशल बना ले।

इस श्लोक के दूसरे चरण में भगवान ने योग की महिमा का निरूपण किया। मनुष्य के हृदय में योग जानने की जिज्ञासा ज्योंही पैदा होती है त्योंही शास्त्रजन्य ज्ञान का फल पाने के योग्य बनता है। वेदोक्त कर्म के अनुष्ठान का फल पार करता है। इससे स्पष्ट है कि आत्म ध्यान की कितनी बडी महत्ता है। योग को समझने की जिज्ञासा के पैदा होते ही जब जीव शब्द ब्रह्म को पार करता है तब योग का आचरण करने पर, कहने की जरूरत नहीं कि कैसा फल वह पाता है।

प्रश्न - योगभ्रष्ट इस जन्म में फिर योग की ओर क्यों आकृष्ट होता है ?

उत्तर - पूर्व जन्म के योगाभ्यास के संस्कार उसे जबर्दस्ती योग की ओर आकृष्ट करते हैं।

प्रश्न - योग की महिमा कैसी है ?

उत्तर - योग की जिज्ञासा के पैदा होने मात्र से मनुष्य शब्द ब्रह्म को पार करता है।

४५. प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥

शब्दार्थ - प्रयत्नात = हठ पूर्वक । यतमानः = प्रयत्न करते हुए । योगितु = योगी हो तो । संशुद्ध किल्बिषः पापों से मुक्त (दोष रहित) । अनेक जन्म संसिद्धः = अनेक जन्मों के संस्कार बल से बने योगसिद्ध । ततः = इसके बाद । परां = सर्वोत्तम । गतिम् = गति । याति = पाता है ।

भावार्थ - परन्तु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी तो पिछले अनेक जन्मों के संस्कारबल से इसी जन्म में संसिद्ध होकर सम्पूर्ण पापों से रहित हो फिर तत्काल ही परमगति को प्राप्त हो जाता है ।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि योगी किस प्रकार सर्वोत्तम मोक्ष पद पा सकता है । इस के लिए तीन विषयों का उल्लेख किया गया है । (१) हठ से भरा प्रयत्न (२) अनेक जन्मों से किया गया अभ्यास (३) पाप राहित्य । बताया गया कि मोक्ष प्राप्ति के लिए ये तीनों आवश्यक हैं । कोई भी काम करना हो तो उस के लिए हठ या आग्रह जरूरी है । दृढ प्रतिज्ञ होना अत्यंत आवश्यक है । सांसारिक कार्य भी इसी से सफल होते हैं । उपनिषद् घोषित करते हैं कि नायमात्मा बलहीन ने लभ्यः "यह आत्मा दुर्बल के लिए प्राप्य नहीं, आलसियों के लिए इसकी प्राप्ति संभव नहीं । अतः हठ, आग्रह व प्रयत्न आवश्यक है । तभी साधक वैसी आत्मा पा सकता है ।"

पूर्वजन्म के अभ्यास के फलस्वरूप ही इस जन्म में साधक दृढ प्रयत्न कर पाता है । शास्त्र घोषित करते हैं कि मानव जन्म की प्राप्ति, मोक्ष की इच्छा का पैदा होना और पारमार्थिक संस्कारों की प्राप्ति जन्म जन्म के सुकृतों का फल है । इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए कई जन्मों की आवश्यकता है । कठोर श्रम एवं तीव्र प्रयत्न से इस जन्म में, इसी क्षण मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है । कई जन्मों की प्रतीक्षा करने की

जरूरत नहीं है। इतना ही समझना चाहिए कि इस जन्म में साधक को जो शुद्ध अन्तःकरण एवं दैव जिज्ञासा की प्राप्ति हुयी वह कई जन्मों से किये गये प्रयत्नों का ही फल है।

तीसरा है पाप राहित्य। जब तक मन में पाप का कीचड जमा रहेगा तब तक आत्मा प्रकाशित नहीं होगी। अतः आत्मानुभूति की प्राप्ति के लिए पापों को धो देना अत्यंत आवश्यक है। जप-तप, ध्यान-ज्ञान, भक्ति आदि से पापों का क्षालन होता है। हृदय निर्मल बनता है। आत्मोदय के लिए निर्मल हृदय बहुत जरूरी है। इसीलिए भगवान ने स्पष्ट कहा कि "संशुद्ध किल्बिषः" पापों से मुक्त साधक ही मोक्ष पा सकता है। धूल को दूर करने के लिए जैसे झाडू आवश्यक है, मल को दूर करने के लिए जैसे जल आवश्यक है, वैसे ही हृदय में स्थित पाप पंकिल को धो देने के लिए दैव का ध्यान, निष्काम कर्म आदि आवश्यक हैं। उनकी सहायता से योगी कल्मष रहित बनता है। "परांगतिम्" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि मोक्ष का पद संसार के सभी पदों से सर्वश्रेष्ठ है। क्यों कि बाकी पद उससे कम हैं। पर मोक्ष का पद पुनरावृत्ति रहित है। उस सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त करने का मार्ग यहाँ भगवान ने सूचित किया। उसे आचरण में लाना मुमुक्षुओं का काम है।

प्रश्न - संसार में सब से उत्तम गति क्या है ?

उत्तर - आत्म सक्षात्कार ही उत्तम गति है।

प्रश्न - वह जीव को कैसे प्राप्त होगा ?

उत्तर :- (१) हठ या आग्रह से प्रयत्न करने पर

(२) जन्म जन्म के ध्यान एवं अभ्यास के फलस्वरूप

(३) पाप राहित्य से, जीवों को मोक्ष प्राप्त होता है।

सम्बन्ध - योगभ्रष्ट की गति का विषय समाप्त करके, अब भगवान् योगी की महिमा कहते हुए अर्जुन को योगी बनने के लिये आज्ञा देते हैं -

४६. *तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।*
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

शब्दार्थ - अर्जुन = हे अर्जुन । योगी = योगी । तपस्विभ्यः = तपस्वियों से । अधिकः = श्रेष्ठ । ज्ञानिभ्यः अपि = शास्त्रज्ञानियों से । अधिकः = श्रेष्ठ । मतः = माना जाता है । योगी = योगी । कर्मिभ्य: च = कर्मकरनेवालों से भी । अधिक: = श्रेष्ठ है । तस्मात् = इससे । योगी = योगी । भव = होओ ।

भावार्थ - योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है और सकामकर्म करनेवालों से भी योगी श्रेष्ठ है; इससे हे अर्जुन ! तू योगी हो ।

व्याख्या - यहाँ ध्यानयोगी का महत्व बताया गया । कहा गया कि वह तपस्वियों, शास्त्रज्ञानियों और कर्म निष्ठ व्यक्तियों से श्रेष्ठ है । यहाँ तपस्वियों का अर्थ है कृच्छ चांद्रायण आदि करनेवाले । ज्ञानियों का अर्थ है शास्त्र का ज्ञान रखनेवाले । कर्मनिष्ठ का अर्थ है अग्निहोत्र आदि कर्म करनेवाले । परमात्मा के अतिसमीप पहुँचानेवाला ध्यान व ज्ञान ही सब से श्रेष्ठ है । इस सूत्र के द्वारा अच्छी तरह जाना जा सकता है कि संसार के सभी पदार्थों का स्तर क्या है ?

भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आदेश दिया कि योगी भव । यहाँ ध्यान देने की एक बात है । योग की श्रेष्ठता बताने के बाद यह आदेश दिया गया । इसीलिए तस्मात् शब्द का प्रयोग किया गया । कोई भी बात जब विवरणात्मक ढंग से बताएँगे तभी उस पर लोगों को विश्वास होगा । इसीलिए श्रीकृष्ण ने भी वैसा ही किया । ध्यान की महत्ता एवं पद्धति का विवरण बता-कर अंत में करुणा करके आदेश दिया कि तुम योगी बनो । भगवान के इस आदेश के अनुसार हर किसी को योगी बनना चाहिए न कि भोगी । योग रोग का निर्मूलन करता है । अर्थात् भवरोग को दूर करता है । भगवान में विलीन कराने में योग ही सांसारिक सभी दु:खों से मुक्ति प्रदान करानेवाला सर्व श्रेष्ठ

उपाय है। भगवान ने अर्जुन को आदेश दिया कि योगी भव। यह आदेश सब लोगों के लिए शिरोधार्य है। योगी का मतलब काषायांबर धारण करनेवाला एवं दाढी मूंछ वाला नहीं है। विषयवासनाओं से मन को मोड कर उसे आत्मा में स्थित करने में सफल होने वाला साधक ही सच्चा योगी है। भगवान के ध्यान में निरंतर रत साधक ही योगी है। योगी बनने पर ही भवबंधन टूट जाएगा। ध्यान के द्वारा स्वस्वरूप का साक्षात्कार जब साधक करेगा तब वह मुक्ति पाएगा। अत: उस महोन्नत स्थिति तक पहुँच कर योग का पद प्राप्त करने का प्रयत्न सब को करना चाहिए।

प्रश्न - योगी कैसा होता है ?

उत्तर - तपस्वियों, शास्त्र ज्ञानियों तथा कर्मनिष्ठों से योगी श्रेष्ठ है।

प्रश्न - भगवान ने अर्जुन को कौन सा आदेश दिया ?

उत्तर - भगवान ने अर्जुन को आदेश दिया कि योगी भव अर्थात् योगी होओ।

४७. योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मत: ।।

शब्दार्थ - सर्वेषां योगिनां अपि = सब योगियों में। य: = जो। मद्गतेन = मुझ में स्थित। अन्तरात्मना = मन से। श्रद्धावान् = श्रद्धालु बन कर। माम् = मुझे। भजते = भजता है। स: = वह। युक्ततम: = परम श्रेष्ठ। मे मत: = मेरा मत है।

भावार्थ - सम्पूर्ण योगियों में भी जो श्रद्धावान् योगी मुझ में लगे हुए अन्तरात्मा से मुझ को निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

व्याख्या - पिछले श्लोक में बताया गया कि संसार में योगी सब से श्रेष्ठ हैं। इस श्लोक में बताया गया कि उन योगियों में कौन श्रेष्ठ हैं। भगवान का आदेश है कि बडा श्रद्धालु बन कर, अन्तरात्मा में मन को स्थित कर उस परमात्मा का ध्यान करनेवाला योगियों में सर्वोत्तम है। श्रीकृष्ण चराचर

प्राणियों के हृदयांतराल में विद्यमान परमात्मा हैं। इसलिए "मुझ में मन लगा" का अर्थ हृदय के साक्षी अन्तरात्मा में चित्त को संलग्न करना ही है। या श्रीकृष्ण के सगुणरूप का भक्तलोग सेवन कर सकते हैं। "कुछ भी हो, चित्त की वासनाएँ मिट जायँ, ध्येय वस्तु पारमात्मा में लीन हो जाय और जीव आत्ममात्र बन कर शेष रह जाय, यही मुख्य विषय है। वही योग है। इस योग का जो पालन करेगा वही श्रेष्ठ योगी है सभी योगियों में" कहा गया। इससे स्पष्ट है कि कर्मयोग, ध्यानयोग, तथा ज्ञानयोग इनमें से किसी भी योग का पालन क्यों न करें यदि भक्ति भी उसके साथ जोड दें तो अच्छा फल पा सकते हैं। बीज तभी पौधा बन सकेगा जब वह पानी से भीगेगा। इसी तरह भक्ति रूपी जल से सिंचने पर ही हर योग मार्ग उपयोगी सिद्ध होगा। भीषण माया संग्राम में विजयी बनना हो तो साधक के लिए भगवान का अनुग्रह अत्यावश्यक है। इसीलिए सभी भक्त चाहे वे किसी भी मार्ग का अनुसरण क्यों न करते हों भक्ति का अवश्य आश्रय लेते हैं। गीता के हर अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने भक्ति की महत्ता का वर्णन किया है।

'श्रद्धावान्' कहा गया। इससे स्पष्ट है कि साधक को श्रद्धा के साथ भगवान का सेवन करना चाहिए। इस श्रद्धा के बारे में गीताचार्य ने गीता में कई बार कहा। शम दम आदि साधनों में से श्रद्धा भी एक है। इसलिए वही श्रद्धा के साथ साधक को भगवान का ध्यान एवं स्मरण करना चाहिए।

'मद्गतेन' कहा गया। इससे स्पष्ट है कि मन को आत्मा में प्रयत्न करके स्थित करना चाहिए। गीताचार्य के बार बार कहने से भक्ति की महत्ता प्रकट होती है। संसार में लोग किसी को बडा कहें तो कोई लाभ नहीं होता। भगवान की दृष्टि में बडा बन सकें तो काफी है। वह बडप्पन तथा वह गौरव परमात्मा के ध्यान से ही प्राप्त होता है। इसलिए हर मुमुक्षु को भगवान के ध्यान में श्रद्धा से लीन होकर उनके कटाक्ष का पात्र बनना चाहिए। तभी वह इस संसार सागर को पार कर मोक्ष पा सकता है।

प्रश्न - योगियों में से भगवान की दृष्टि में श्रेष्ठ कौन है?

उत्तर - (१) बडा श्रद्धालु (२) आत्मा या श्रीकृष्ण में मन को स्थित करनेवाला (३) निरंतर परमात्मा का ध्यान करनेवाला सर्वोत्तम योगी होगा।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

यह उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित, ब्रह्म विद्या, योगशास्त्र और श्रीकृष्णार्जुन संवादात्मक श्रीमद्भगवद्गीता के आत्मसंयमयोग शीर्षक छठा अध्याय है।

ॐ तत् सत्

✿ ✿ ✿

गीता मकरंद

भाग - २

श्लोकों की अनुक्रमणिका

	अ.	श्लो.
अ		
अजोऽपिसन्नव्ययात्मा	४	६
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च	४	४०
अथ केन प्रयुक्तोऽयम्	३	३६
अथवा योगिनामेव	६	४२
अनाश्रितः कर्मफलम्	६	१
अन्नाद्भवन्ति भूतानि	३	१४
अपरं भवतो जन्म	४	४
अपरे नियताहाराः	४	३०
अपाने जुह्वति प्राणम्	४	२९
अपि चेदसि पापेभ्यः	४	३६
अयतिः श्रद्धयो	६	३७
असंयतात्मना योगो	६	३६
असंशयं महाबाहो	६	३५
आ		
आत्मौपम्येन सर्वत्र	६	३२
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम्	६	३
आवृतं ज्ञानमेतेन	३	३९
इ		
इन्द्रिस्येन्द्रियस्यार्थे	३	३४
इन्द्रियाणि पराण्याहुः	३	४२
इन्द्रियाणि मनो बुद्धि	३	४०
इमं विवस्वते योगम्	४	१
इष्टान्भोगान्हि	३	१२
इहैव तैर्जितः सर्गो	५	१९
उ		
उत्सन्नकुलधर्माणम्	१	४४
उत्सीदेयुरिमे लोकाः	३	२५
उद्धरेदात्मनात्मानम्	६	५
ए		
एतन्मे संशयं कृष्ण	६	३९
एवं परम्पराप्राप्तम्	४	२

अ. = अध्याय; श्लो. = श्लोक।

	अ.	श्लो.
एवं प्रवर्तितं चक्रम्	३	१६
एवं बहुविधा यज्ञाः	४	३२
एवं बुद्धेः परं बुद्‌ध्वा	३	४३
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म	४	१५
क		
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टः	६	३८
कर्मणैवहि संसिद्धिम्	३	२०
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यम्	४	१७
कर्मण्यकर्म यः पश्येत्	४	१८
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि	३	१५
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य	३	६
काङ्क्षन्तः कर्मणाम्	४	१२
काम एष क्रोध एष	३	३७
कामक्रोधवियुक्तानाम्	५	२६
कायेन मनसा बुद्ध्या	५	११
किं कर्म किमकर्मेति	४	१६
ग		
गतसङ्गस्य मुक्तस्य	४	२३
च		
चञ्चलं हि मनः कृष्ण	६	३४
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्	४	१३

ज	अ.	श्लो.
जन्म कर्म च मे दिव्यम्	४	९
जितात्मनः प्रशान्तस्य	६	७
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा	६	८
ज्ञानेन तु तदज्ञानम्	५	१६
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी	५	३
ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते	३	१
त		
तत्त्ववित्तु महाबाहो	३	२८
तत्र तं बुद्धिसंयोगम्	६	४३
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा	६	१२
तदबुद्धयस्तदात्मानः	५	१७
तद्विद्धि प्रणिपातेन	४	३४
तपस्विभ्योऽधिको योगी	६	४६
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ	३	४१
तस्मादसक्तः सततम्	३	१९
तस्मादज्ञानसंभूतम्	४	४२
तं विद्याद्दुःख संयोग	६	२३
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्	४	२०
द		
देवान्भावयतानेन	३	११
दैवमेवापरे यज्ञम्	४	२५
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञाः	४	२८

ध

	अ.	श्लो.
धूमेनाव्रियते वह्निः	३	३८
न		
न कर्तृत्वं न कर्माणि	५	१४
न कर्मणामनारम्भात्	३	४
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य	५	२०
न बुद्धिभेदं जनयेत्	३	२६
न मां कर्माणि लिम्पन्ति	४	१४
न मे पार्थास्ति कर्तव्यम्	३	२२
न हि कश्चित्क्षणमपि	३	५
न हि ज्ञानेन सदृशम्	४	३८
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति	६	१६
नादत्ते कस्यचित् पापम्	५	१५
नियतं कुरु कर्म त्वम्	३	८
निराशीर्यतचितात्मा	४	२१
नैव किञ्चित् करोमीति	५	८
नैव तस्य कृतेनार्थो	३	१८
प		
परित्राणाय साधूनाम्	४	८
पार्थ नैवेह नामुत्र	६	४०
पूर्वाभ्यासेन तेनैव	६	४४

	अ.	श्लो.
प्रकृतेः क्रियमाणानि	३	२७
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः	३	२९
प्रयत्नाद्यतमानस्तु	६	४५
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्	५	९
प्रशान्तमनसं ह्येनम्	६	२७
प्रशान्तात्मा विगतभीः	६	१४
प्राप्य पुण्यकृतां लोकान्	६	४१
ब		
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य	६	६
बहूनि मे व्यतीतानि	४	५
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा	५	२१
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि	५	१०
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः	४	२४
भ		
भोक्तारं यज्ञतपसाम्	५	२९
म		
मयि सर्वाणि कर्माणि	३	३०
य		
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्	४	३५
यज्ञशिष्टामृतभुजो	४	३१
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो	३	१३

	अ.	श्लो.
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र	३	९
यतेन्द्रियमनोबुद्धिः	५	२८
यतो यतो निश्चरति	६	२६
यत्रोपरमते चित्तम्	६	२०
यत्सांख्यैः प्राप्यते	५	५
यथा दीपो निवातस्थो	६	१९
यथैधांसि समिद्धोऽग्निः	४	३७
यदा यदा हि धर्मस्य	४	७
यदा विनियतं चित्तम्	६	१८
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु	६	४
यदि ह्यहं न वर्तेयं	३	२३
यदृच्छा लाभसंतुष्टो	४	२२
यद्यदाचरति श्रेष्ठः	३	२१
यस्त्वात्मरतिरेव	३	१७
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा	३	७
यस्य सर्वे समारम्भाः	४	१९
यं लब्ध्वा चापरं लाभम्	६	२२
यं संन्यासमिति प्राहुः	६	२
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा	५	१२
युक्ताहारविहारस्य	६	१७
युञ्जन्नेवं सदात्मानम्	६	१५
युञ्जन्नेवं सदात्मानम्	६	२८

	अ.	श्लो.
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो	३	३२
ये मे मतमिदं नित्यम्	३	३१
ये यथा मां प्रपद्यन्ते	४	११
ये हि संस्पर्शजा भोगाः	५	२२
योगयुक्तो विशुद्धात्मा	५	७
योगसंन्यस्तकर्माणम्	४	४१
योगिनामपि सर्वेषाम्	६	४७
योगी युञ्जीत सततम्	६	१०
योऽन्तः सुखोऽन्तरारामः	५	२४
यो मां पश्यति सर्वत्र	६	३०
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः	६	३३
ल		
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्	५	२५
लोकेऽस्मिन्द्विविधा	३	३
व		
विद्याविनयसंपन्ने	५	१८
वीतरागभयक्रोधः	४	१०
व्यामिश्रेणेव वाक्येन	३	२
श		
शक्नोतीहैव यः सोढुम्	५	२३
शनैः शनैरुपरमेत्	६	२५
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य	६	११

	अ.	श्लो.
श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्	४	३९
श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञात्	४	३३
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः	३	३५
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये	४	२६
स		
स एवायं मया तेऽद्य	४	३
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसः	३	२५
सदृशं चेष्टते स्वस्याः	३	३३
समं कायशिरोग्रीवम्	६	१३
सर्वकर्माणि मनसा	५	१३
सर्वभूतस्थमात्मानम्	६	२९

	अ.	श्लो
सर्वभूतस्थितं यो माम्	६	३१
सवाणीन्द्रियकर्माणि	४	२७
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्टा	३	१०
संकल्पप्रभावान्कामान्	६	२४
संन्यासस्तु महाबाहो	५	६
सन्यासं कर्माणाम्	५	१
संन्यासः कर्मयोगश्च	५	२
सांख्ययोगै पृथग्बालाः	५	४
सुखमात्यन्तिकं यत्तत्	६	२१
सुहृन्मित्रार्युदासीन	६	९
स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्	५	२७

T.T.D. Religious Publications Series No. 235
Price : Rs 45=00

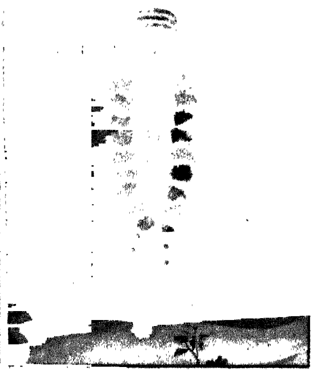

श्री श्री श्री विद्याप्रकाशानन्दगिरिस्वामी

देश-विदेशों में गीता का संप्रति विस्तृत प्रचार हो रहा है। साहित्यज्ञ, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, कवि, पंडित आदि अपने-अपने दृष्टिकोणों से इस लोकोपयोगी कार्य में लगे हुए हैं। इसकी आवश्यकता को जानकर महान तपस्वी श्री श्री श्री विद्याप्रकाशानंदगिरि स्वामीजी द्वारा तेलुगु में विरचित 'गीता मकरंद' का हिन्दी रूपांतर तिरुमल तिरुपति देवस्थान द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है। सुपरिचित एवं हिन्दी व तेलुगु भाषाओं में निष्णात तथा हैदराबाद के निवासी श्री वेमूरि राधाकृष्णमूर्ति ने इस कार्यभार को संभाला है।

'गीता मकरंद' हिन्दी अनुवाद का यह दूसरा भाग है। इसमें गीता के तीसरे, चौथे, पाँचवें व छठे अध्यायों का विवरण सहित प्रकाशन किया जा रहा है। सहृदय पाठक इसका अध्ययन कर गीतोपदेशक परब्रह्म श्रीकृष्ण एवं श्री श्री श्री विद्याप्रकाशानंदगिरि स्वामीजी के अनुग्रह के पात्र बनें।

Published by **Dr. P. Krishnaiah**, I.A.S., Executive Officer,
T.T.Devasthanams and printed at T.T.D. Press, Tirupati.